स्वर्गादपि गरीयसी
—श्रीअरविन्द घोष

आठ आना पुस्तकमाला ।

~दूसरा पुष्प~

# प्रजाके अधिकार ।

छप रहा है । शीघ्र ही प्रकाशित होगा ।

आठ आना पुस्तकमाला—१

लेखक

# तपस्वी अरविन्द घोष

अनुवादक—आधारयन्त्र

हिन्दी साहित्य कार्यालय,

५१/५२, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता ।

पौष १९७९ ।

प्रकाशक :—

हिन्दी साहित्य कार्यालय,

५१/५२, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता ।

प्रथम बार २०००—मूल्य आठ आना ।

मुद्रक :—

महादेव प्रसाद सेठ

बालकृष्ण प्रेस

१३, शंकरघोष लेन,

कलकत्ता ।
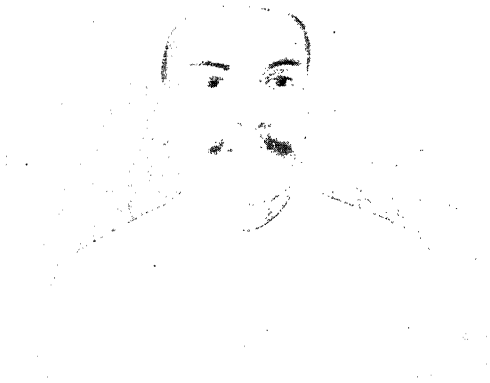
बाबू वासुदेवजी गोयेनका

( फतेहपुर निवासी )
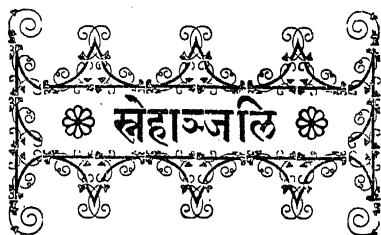
*प्रियवर बाबू बासुदेवजी गोयेनका फतेहपुर निवासी*

प्रियवर,

'भगवानकी लीला' में मुझे असीम अनुराग है अर्थात् यह मेरे प्राणोंमें बसी है। उसी भगवानकी लीलाका फल मेरा और आपका अभिन्न संयोग है। इस अलौकिक सम्बन्धके निदर्शनके लिये किसी स्थूल पदार्थकी आवश्यकता नहीं। पर सांसारिक नियमका पालन करनेके हेतु अपने प्रेमकी यह वस्तु 'भगवानकी लीला' तुम्हें सानुराग समर्पित करता हूं। आशा है इसे स्वीकार कर मुझे अनुगृहीत करोगे।

तुम्हारा अभिन्न हृदय—

'बजरंग'—

# भूमिका

सहृदय वाचकवृन्द,

आज भगवानकी लीला लेकर हम आप लोगोंके समक्ष उपस्थित हैं। इस आठ आना पुस्तक मालाका प्रकाशन भी उसी लीलामयकी लीलाका फल है अन्यथा इतने प्रकाशकोंके रहते यह नया प्रयास क्यों किया जाता और प्रकाशकोंकी रीति भांतिके भिन्न मूल्यादिका निर्णय क्यों किया जाता। हम आप सब सुनते चले आये हैं कि भगवान लीलामय हैं और उनकी लीला निरन्तर हुआ करती है। पर उसका मनन तथा अनुभव करनेका आज तक अव-सर नहीं मिला था। तपस्वी अरविन्दने उसी लीलाका साक्षात्कर उसे अपनी लेखनीद्वारा अंकित किया है। उसीका अनुवाद हम आज आपके सन्मुख रख रहे हैं। भगवानकी लीला कहां, किस प्रकार और किस रूपमें होती है तथा उस लीलामें हमारा क्या स्थान है इसका अनुभव करते आइये और "भगवानकी

लीला" में रत हो जाइये। इसमें हमारा और आपका दोनोंका कल्याण है।

उसी लीलामयकी प्रेरणासे इस आठ आना पुस्तक मालाका उद्देश्य भी विचित्र ही बना है। इस मालाकी प्रत्येक पुस्तक केवलमात्र आठ आनामें मिल सकेंगी। इतनी सस्ती पुस्तकोंका प्रकाशन भी उसी लीलामयकी प्रेरणा है। हम तो केवल उसके आधारमात्र हैं। ऐसी दशामें सहयोग तथा सहायताके लिये भी लिखनेका कोई अधिकार नहीं है क्योंकि केवल कर्म करते रहना ही हमारी शक्तिमें है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। हम पुस्तकें प्रकाशित करते जायँगे। यदि उस लीलामयकी प्रेरणा हुई तो आप स्वयं सहयोग करेंगे।

पुस्तकके रोचक होनेमें भी उसीका हाथ है। उसकी प्रेरणासे पुस्तकें अवश्य रोचक होंगी, इसमें कोई कहनेकी बात नहीं है।

विनीत—

प्रकाशक

विषय सूची

# भगवानकी लीला।

## १

## योगका रूप।

योगका चरम फल मुक्ति है, पर हम जिस योगका अभ्यास करते हैं और जिसका प्रचार करना चाहते हैं उसका उद्देश्य अत्मोन्नति नहीं है। समस्त मानवजातिकी उन्नति ही इसका मुख्य उद्देश्य है। अनवरत रूपसे सर्वोत्कृष्ट आनन्द प्राप्त करना ही मनुष्य शरीरका सबसे बड़ा उद्देश्य है। पर यह योग साधना केवल अपने आनन्दके लिये नहीं है। इस पृथ्वीपर स्वर्गीय आनन्द, स्वर्गीय राज्य तथा सत्ययुग स्थापन करना ही इस योग साधनका उद्देश्य है। अपने लिये मोक्षकी कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि आत्मा तो नित्य मुक्त है और बन्धन तो केवल

क्षणिक मायामात्र है। वास्तवमें हम बँधे हुए नहीं हैं बल्कि प्रपंच और मायाके कारण अपनेको बँधा हुआ समझते हैं। भगवान जब चाहें हम मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि सर्वशक्तिमान परमात्मा ही इस विश्वलीलाके नट हैं। वेही हमको अपनी इच्छाके अनुसार विविध प्रकारसे नचाते हैं। बगैर उनकी प्रेरणा और आज्ञाके कोई भी आत्मा इस खेलसे अलग नहीं हो सकती। उसकी लीलामें भाग लेनेके लिये चित्र विचित्र वेष धारण करते रहनेपर भी हम अपनेको भूल नहीं सकते। हम कभी पुण्य करते हैं, कभी पापमें रत रहते हैं, कभी भोगविलासमें मग्न रहते हैं, तो कभी शोकातुर हो जाते हैं, कभी आनन्दका अनुभव करते हैं तो कभी दुःखका, कभी भोगमें मस्त रहते हैं तो कभी वैराग्यकी तरंगे उठती हैं, यह सब भगवानकी प्रेरणा और लीला है। जब भगवान हमसे जो अभिनय कराना चाहते हैं, हम उसे ही शक्तिभर पालन करनेका प्रयत्न करते हैं। वे अनन्त युगसे अनन्त नाट्य-लीलाकी रचना करते आ रहे हैं और अविश्रान्त सदा यही खेल खेलते जाते हैं। इसमें किसी प्रकार-

की बुराई नहीं, घृणा नहीं, भय नहीं। यही भगवान-की लीला है। बुद्धिमान वही है जो इस नाटककी प्रहेलिकाको समझता है और उसकी प्रेरणाके अनुसार चलता है। जिस साजमें भगवान उसे सजा देता है उसीमें वह परम आनन्द पाता है और भगवान-की प्रेरणाके अनुसार खेल खेला करता है। क्योंकि इस सृष्टिकी रचना ही उसके आनन्दके लिये है। ज्ञानीजन इस बातको समझकर सदा उसकी प्रेरणा-के अनुसार ही चलते हैं और जो नाच वह नचाता है वही नाच नाचते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि उसकी इच्छाओंकी पूर्ति करना ही इस शरीरका कर्त्तव्य है। नहीं तो उस अद्वितीय पुरुषका प्रतिस्पर्धी होकर अपनी इच्छा चलानेका कौन साहस करेगा? जिस समय इस भूतलपर भीषण आतङ्क उपस्थित हो जाता है, विविध प्रकारकी विपत्तियों और व्याधियोंसे प्राणी रक्षाके लिये त्राहि त्राहि पुकारते हैं, उस समयके लिये भगवान कोई ऐसा स्थान नियत कर रखते हैं, जहाँके प्राणी—समस्त समुदाय या कुछ लोग—उस आतङ्क तथा उपद्रवकी परवा न करके विश्वके महत् ज्ञानकी रक्षा करते हैं।

इस चतुर्युगमें तो यह भारतवर्ष ही भगवानका वह मनोनीत स्थान प्रतीत होता है। क्योंकि इस समय भगवान विश्वमें तामसिक प्रभाव फैलाकर अज्ञानताका द्वन्द्, क्रोध, दुःख, निर्बलता और स्वार्थका युद्ध करा रहे हैं। जिस समय अहंकारका प्रादुर्भाव करके प्रत्येक प्राणीको उसीमें जलाते हुए हिंसा, द्वेष और कलहकी लीला वे कराते हैं, जिस समय अज्ञानरूपी अन्धकारसे इस विश्वको आच्छादितकर प्राणीमात्रमें दुराचार, लोलुपता, आत्म-दुर्बलता फैलाकर अपनी लीला करनेका प्रयास करते हैं अर्थात् जब उन्होंने कालीकी लीलाका आनन्द् देखना चाहा तो भारतवर्षके ज्ञान-सूर्यको अज्ञानताके बाद्लोंसे अच्छादित कर दिया, इसका बलवीर्य अपहरण कर लिया, इसकी शक्ति छीन ली और इसे अवनतिके गढ़ेमें गिरा दिया जिससे कि यह विश्वकी इस प्रचण्ड लीलामें योग न दे सके और उसकी लालामें शामिल न हो सके। और जब भगवानकी इच्छा जगत्के अज्ञान अन्धकार और पङ्कको हटाकर इसे पूर्णरूपसे उन्नत करनेकी होती है, जब भगवान निकृष्ट लीलाकी यवनिकाका पतन करके नारायण

रूपसे जगत्‌में विराजमान होना चाहते हैं, विश्वमें प्रेम, ज्ञान और शक्तिका विस्तार करना चाहते हैं उस समय वे भारतवर्षके सुप्त ज्ञान, प्रेम और शक्तिको उद्बोधित कर देते हैं जिससे वह अपनी शक्ति, बुद्धि और शुभेच्छासे समस्त संसारको ज्ञान और प्रेमसे दीक्षित करता है और भगवानकी उस लीलाका अधिकारी बनता है।

भगवानकी प्रेरणासे ही भारतवर्ष इतने दिनों तक सोता पड़ा रहा। भारतवर्षके ऋषि, मुनि और योगीगण संसारके सम्पूर्ण ज्ञानको अपनेमें बटोरकर समाधिस्थ होकर आनन्दकी चिन्तामें संलग्न रहे। परम भक्त तथा अनुयायी शिष्यों और उपासकोंके साथ इस विश्वव्यापी आतंकके समयमें वे लोग गिरिकन्दराओंमें अथवा निर्जन बनमें परमानन्दकी चिन्तामें समय बिता रहे थे। सहसा भगवानकी प्रेरणासे, उनका आदेश पाकर वे महर्षिगण विश्वको सच्चे ज्ञानसे आलोकित करनेके निमित्त इस देशमें सच्चे ज्ञानका प्रसार करनेके लिये आविराजे हैं। इसीसे आज मृत, निर्जीव और प्राणहीन भारत फिर जाग उठा है। क्षीणकाय, दुर्बल शरीर, रक्तमज्जा-

हीन, भारतके सन्तान खाली हाथ, विना किसी सहायकके, अस्त्रशस्त्रहीन आज संसार पर विजय प्राप्त करनेके लिये कमर कसकर तैयार हुए हैं। संसारकी मदान्ध जातियाँ, मदमें चूर होकर, भारतको तुच्छातितुच्छ समझकर उसकी अवहेलना करती थीं पर आज इसी थोड़े ही दिनमें समस्त संसार विस्मित और विस्फारित नेत्रोंसे भारतकी ओर देख रहा है। भारतवर्षकी यह जागृति, स्वप्न नहीं है, मिथ्या नहीं है, भ्रम नहीं है, भारतवर्ष जाग उठा है, यह जागृति जितनी शीघ्रतासे सम्पादित हुई है उतनी ही स्थायी रहेगी।*

---

* बंगभंगके बादसे ही देशमें जागृति आरम्भ हुई है पर इधर असहयोग आन्दोलनसे यह इतनी द्रुतगामी हो गई कि संसार विस्मित हो रहा है। जो काम राष्ट्रोंने अस्त्रबलसे किया, जिस कामके लिये रक्तकी नदियां बहाई गई, लाखोंकी संख्यामें नर-बलि दी गई, वही काम आज भारतवर्ष खाली हाथ करके संसारको चकित कर रहा है। संसारके बड़े बड़े राष्ट्र इस बातको स्वीकार कर रहे हैं कि भारतवर्ष आत्मबल, सत्य और अहिंसाकी प्रतिमा है। भारतवर्षके भाग्यसूर्य महात्मा गांधी आज संसारके सभी राष्ट्रोंमें देवताकी भांति प्रतिष्ठा पा रहे हैं। संसार उन्हें एक अपूर्व ज्योति मान रहा है।

यद्यपि भारतवर्षके पास इस समय कुछ नहीं हैं, उसके पास उत्थानके कोई साधन नहीं हैं, फिर भी अपने तपोबलके सहारेपर वह सब कुछ कर लेगा। उसको ईश्वरपर भरोसा है, विश्वास है। यह विश्वास इस विश्वको जड़ बतलानेवालोंकी सीमासे सर्वथा दूर है और उनके लिये अगम्य है। भगवानकी सहायतासे ही वह समस्त संसारको ज्ञानकी दीक्षा देगा। भूतलके सिंहासनपर जनक, अजातशत्रु तथा कार्तवीर्यकी भाँति अटल बैठकर संसारकी समस्त जातियोंका शासन करेगा। यह विश्व एक बार पुनः स्वर्ग हो जायगा। इसीलिये हम कहते हैं कि भारतवर्षकी यह साधना देशगत, जाति-गत या व्यक्तिगत नहीं है। यह साधना समस्त जगतीतलके कल्याणके निमित्त है।

# योगका उद्देश्य।

भगवानकी प्रेरणा विना संसारमें कोई भी घटना घटित नहीं होती। अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ सभी

काम उन्हींकी प्रेरणाके अधीन हैं। उनकी प्रेरणासे ही दारुण दुर्भिक्षके समयमें पेटकी ज्वालासे व्याकुल नर-नारी मनुष्य तकका मांस खानेको तैयार हो जाते हैं। भयंकर बाढ़ अथवा संहारकारिणी महामारी-के प्रकोपसे सहसा चारों ओर हाहाकार मच जाता है और देश गारत हो जाता है। विप्लव, क्रान्ति, समर आदि नाना प्रकारके आतङ्कोंसे मनुष्य जाति आकुल होकर त्राहि त्राहि पुकारने लगती है, और फिर उन्हीं-की इच्छासे देशमें शान्ति छा जाती है, पृथ्वी धन-धान्यसे मनुष्य जातिको सुसम्पन्न बनाती है, प्राणी-मात्रका हृदय स्नेह, प्रीति तथा दयाके भावसे परिपूर्ण हो जाता है और वे परस्पर स्नेह तथा प्रेमके साथ सुख तथा शान्तिसे रहने लगते हैं। यह सब भगवान-की ही लीलाका फल है। वह लीलामय हैं।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि ही लीलामयकी लीलासे हुई है। लीलासेही यह जगत् प्रकाशित और विकसित होकर अनिर्वचनीय सौन्दर्यकी प्रभा फैला रहा है। और एक दिन लीलाके लिये ही ये असंख्य ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रमण्डली, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और रसातल किसी अगाध गढ़ेमें डूब जायँगे,

सगुण ब्रह्म निर्गुण हो जायगा, प्रकाश-ब्रह्म अप्रकाशमें रूप रहित होकर छिप जायगा। ब्रह्माण्डका वह कल्पनातीत परिणाम अव्यक्त है, उसको प्रकाश करनेके लिये मनुष्यके पास शब्दोंका ही अभाव है। इस लिये यदि मनुष्यजातिके बीचमें ही उनकी लीला आरम्भ हुई है तो यह आश्चर्यकी कौन बात है, इसमें अविश्वास करनेकी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती। यह लीला असीम है, इसका आदि अन्त नहीं है, यह अनादि कालसे रथके पहियेकी तरह चक्कर करती आ रही है। लीलाके गुण और विकासके हिसाबसे मनुष्यने उसे चार भागमें विभक्त कर दिया है। क्रमशः उनका नाम सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग है। अनादिकालसे भगवानकी अपार लीला मनुष्यके बीचमें इसी उपरोक्त क्रमानुसार धारा प्रवाहकी तरह बहती चली आ रही है। सत्य-युगके बाद त्रेता, त्रेताके बाद द्वापर और द्वापरके बाद कलिका प्रादुर्भाव होता है और कलिके बाद क्रमानुसार पुनः सत्य, त्रेता इत्यादिका आगमन होता है। इस लिये कलियुग ही साधनाका उत्तम युग है; क्योंकि भविष्यके स्वर्ग राज्यके लिये भगवान

इसी युगमें मनुष्यको तैयार करते हैं। चारों युगोंमें प्रथम और सर्व प्रधान युग सत्ययुगही है। इस युग-में देवता गणका निवास होता है, पृथ्वीपर धर्म अपने चारों पैरों सहित विराजमान रहता हैं, पृथ्वी उर्वरा और उपजाऊ होकर संसारके सभी प्राणियोंको सबल, स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट बनाती है। ब्राह्मण वेद विद्या पारंगत होते हैं, क्षत्रिय यज्ञ यागादि करते रहते हैं, वैश्य श्रीविष्णु भगवानकी पूजामें दत्तचित्त होकर धर्मयुक्त वाणिज्य व्यवसाय करके स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हैं और शूद्र द्विजाति मात्रकी सेवामें रत रहते हैं। इस तरह इस युगमें वर्णाश्रम धर्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। सम्पूर्ण नरनारीगण चोरी, शठता इत्यादि हीन वृत्तियोंको त्यागकर आधि व्याधिसे मुक्त होकर स्वर्गीय जीवनका उपभोग करते हैं। भगवानका पूरा आनन्द मनुष्यके जीवनमें इसी युगमें विकसित होता है। मनुष्यको अपनी चेष्टासे कुछ नहीं करना पड़ता। स्वभाव शक्ति ही मनुष्यको सत्यभावसे भर देत है, किन्तु यह भी काल तथा अवस्था विशेषसे विवश होनेके कारण काल पूर्ण हो जाने पर आनन्दका यह खेल भंग करना

आरम्भ कर देती है। मनुष्यकी चेष्टा जितनी प्रबल होती है प्रकृति उतनी ही तेज नीचेकी ओर उतरने लगती है। फल यह होता है कि धर्मके चारों-चरणोंमेंसे एक चरण नष्ट हो जाता है और त्रेतायुग-का समागम होता है। स्वभावमें परिवर्त्तन हो जाने पर भी मनुष्य प्राप्त अधिकारोंको सहजमें छोड़ने-की इच्छा नहीं करता। अहंकारके मदसे चूर्ण मनुष्य भगवानकी इच्छाकी गति समझनेमें असमर्थ हो जाता है और जो कुछ वह (भगवान) नष्ट करता है उसकी रक्षाके लिये अधिकाधिक चेष्टा और यत्न करने लगता है। द्वापर युगमें मनुष्य बुद्धिकी सहायतासे नाना प्रकारके नैतिक और सामाजिक विधानोंके द्वारा मानव समाजके बीच दैवीयुगको घेर रखनेकी चेष्टा करता है, किन्तु स्वभाव शक्ति सत्ययुगके अनेक प्रभावोंका नाश कर देती है और केवल आधे पुण्यके सहारे मनुष्य इस अवनीतलमें सुख दुःख, पाप पुण्यसे मिश्रित जीवन बिताता है। कलि-युगमें धर्मका बिलकुल लोप हो जाता है। पुण्यका जो कुछ अंश बाकी रह जाता है वह भी पापके प्रबल अन्धकारमें पड़कर अत्यन्त संकुचित और अस्पष्ट

दिखायी देता है। हम पहले ही कह आये हैं कि यह कलियुग एकदम बुरा नहीं है ; क्योंकि भविष्यत युगको और भी महान् एवं विराट् तथा पूर्ण करनेके लिये इसी युगमें आयोजन और अनुष्ठान करना होता है। फिर सत्ययुगकी नई तैयारी होने लगती है। पाँच छः हज़ार वर्ष जो कलियुगके बीते हैं इतने दिनोंमें 'भारतवर्षका बचा खुचा प्राचीन ऐश्वर्य, प्राचीन ज्ञान, प्राचीन सत्यता तथा धर्म सबका अन्त हो गया। वेद, उपनिषद् तथा भारतके अन्य प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें विहित कथाओंका बहुत कम अंशोंमें प्रचार रह गया है। किन्तु अब पुनर्संगठनका युग आ गया है। भारतकी उन्नतिका आरम्भ हो गया है, विपत्तिकी काली घटा जो भारतके गगनमें मडरा रही थी हट रही है, पूर्व आकाशमें उषाका उज्ज्वल प्रकाश दिखाई पड़ रहा है, प्रकृतिके गुप्त मन्दिरमें सुन्दर दीपक सज्जित हो गया है, शीघ्र ही भगवानकी आरती उतारी जायगी। नवीन युगके आरम्भके उपलक्ष्यमें धर्म, नीति, विद्या, ज्ञान इत्यादि अनेक प्रकारके आन्दोलन मनुष्य समाजमें अवतीर्ण हुए देखे जा रहे हैं। किन्तु यथार्थ सत्यका पता तब भी

किसीने नहीं पाया है। सबसे पहले भारतवर्ष ही इस सत्यका पता लगानेमें समर्थ होगा। आज संसारमें जिस नये युगका अविर्भाव होगा, जिस धर्म, सत्य, प्रेम तथा ऐक्यको भगवानने पृथ्वी पर प्रतिष्ठा करनेकी इच्छा की है वह वर्तमान मानव चरित्रके आंशिक परिवर्तनमें सम्भव नहीं। आधुनिक मानव जातिके बीच कानूनी बन्धन विधान चलानेसे काम नहीं चल सकता। एक बार काया पलट करनी होगी, पुराने संस्कारोंसे यह कार्य सिद्ध नहीं होगा, वाह्य जीवनमें थोड़ासा परिवर्तन लानेसे, अथवा मनुष्यके कार्य परम्पराकी धारा बदल देनेसे भी यह पूरा नहीं होगा। आवश्यकता इस बातकी है कि यह पुनर्संगठन भीतरसे आरम्भ होना चाहिये। मानव अन्तःकरणको एक दमसे नया आकार प्रकार धारण करना होगा, मन, प्राण और चित्तकी वृत्तियोंमें पूर्ण रूपसे परिवर्तन करना होगा। इसका कारण यह है कि मानव समाज एवं जगतकी सम्पूर्ण वस्तुओंका स्वभाव ही विचित्रता पूर्ण हो गया है, एकताका भाव बदलकर उनमें अनेकताका भाव आ गया है। प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें जो समताका एक भाव था

उसने विषमताका रूप धारण कर लिया है। इसी स्वभावके परिवर्तनके लिये योगका आश्रय लेना होगा, राजनीतिक अथवा सामाजिक संघकी स्थापना-से अथवा किसी आदर्श या दर्शन शास्त्र इत्यादिके द्वारा इसका समूल परिवर्तन सम्भव नहीं है, योगके द्वारा हमें अपने मध्यमें भगवानको प्राप्त करना होगा, अपने जीवनको भगवद्भावसे ही पुनर्संगठित करना होगा। हमें अपने मध्यमें तथा समस्त विश्वके मध्यमें इस जागृत परात्पर पुरुषका साक्षात् कराये विना यह परिवर्तन अथवा उद्धार सम्भव नहीं। पूर्ण योगके द्वारा ही यह सब सम्भव है। भारतवर्ष अपना सर्वस्व खोकर भी जिस योग पद्धतिकी रक्षा इतने दिनोंसे गुप्त रूपसे करता आ रहा है, उसी पूर्ण योगकी साधनासे सिद्ध होकर भारतवर्ष नवयुगकी स्थापना करेगा। यह योग किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ग्रहण करनेसे काम नहीं चल सकता ; मुक्ति और आनन्द लाभ यद्यपि योगके अन्यतम लक्ष्य हैं तथापि मनुष्यके बीचमें भगवानकी प्राप्ति ही साध-नाका मुख्य उद्देश्य है। इस पार्थिव जीवनमें ही देवताकी लीला परिपूर्ण होगी। इसी महान् संकल्प-को लेकर हम साधनाके मार्गमें अग्रसर होंगे।

३

# योग और उसकी साधना ।

भगवान और पृथ्वी इन दोनोंका पृथक ज्ञान सबसे प्रबल है, अन्तर केवल यही है कि जो भगवानमें लव लगाते हैं, उन्हें संसारकी सभी वस्तुओंसे सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ता है। हम लोगोंकी धारणा है कि भगवान ही सत्य नित्य वस्तु है, जगत तो केवल मिथ्या और माया है। इसी लिये हम लोगोंको धर्म साधनाके लिये त्यागका भाव धारण करके इस जगतसे सभी तरहका नाता तोड़कर, सांसारिक सभी ऐश्वर्यको मल मूत्रकी तरह कुत्सित समझकर ऐसी अवस्थामें पहुँचना है जिसका इस स्थूल जगतसे कोई सम्बन्ध न हो। किन्तु हम लोग जिस तत्त्वके प्रचार करनेमें लगे हैं उसके अन्तर्गत भगवान और इस जगतके बीच किसी तरहका भेद भाव नहीं है बल्कि ब्रह्म और जगत एक ही हैं, अभेद्य हैं, इसी बात पर जोर दिया गया है।

हम लोग इस जगत्को और उसके समुदाय विकासको दिव्य दृष्टिसे देखना चाहते हैं। शरीरसे लेकर सूक्ष्म आत्मापर्यन्त सभी जगदीश्वरका ऐश्वर्य है, उसीका प्रसाद है, इसी अभेद्य विश्वासको मनमें रखकर हम सच्चिदानन्दमें लीन होना चाहते हैं; क्योंकि इस संसारमें समाधिके ज्ञानको कर्मक्षेत्रमें परिणत करना ही हम लोगोंका लक्ष्य है।

इस उद्देश्य सिद्धिके लिये जीवनको थोड़ा थोड़ा करके नये भावोंकी स्थापना करनेके लिये तैयार करना होगा, पुरानी बुनियादको जड़मूलसे उखाड़ कर नयी नींव पर नये प्रासादका निर्माण करना होगा। वही हम लोगोंका दिव्य जीवन होगा और उसी देव चरित्रका निर्माण करना ही हमारी भविष्यत स्वर्ण युगकी कल्पना है। इस स्वर्ण युगकी स्थापनाके लिये ही हमारी साधना है। उसी देवलीलाको चरितार्थ करनेके लिये हमलोगोंने इस उद्योगपर्वका अभिनय आरम्भ किया है। किन्तु यह योग किसी एक स्वार्थ विशेषकी सिद्धिके लिये न हो; चाहे उसका लक्ष्य मुक्ति और आनन्द हो क्यों न हों। इस महापर्वका उद्यापन

अपने तथा अन्य लोगोंके हृदयमें दिव्य जीवनकी ज्योति जगानेके हेतुसे हो। इस लिये अब हम आपको यह बात बतलावेंगे कि किस उपायसे हम लोग इस मानव जीवनका संचालन करें जिससे भगवानकी लीला पूर्णतया चरितार्थ हो। जीवनको तोड़ मरोड़कर नूतन भाव गठित करनेके लिये हठ और राजयोगकी साधनामें अनवरत प्रवृत्त होनेसे भी वर्तमान अवस्थामें अभीष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती और न त्रिमार्ग योग ही हमारे उद्देश्यके लिये पूर्णतया उपयोगी हो सकता है। अतएव अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये हमें किसी ऐसी योगपद्धतिका अवलम्बन करना होगा जो इनसे सरल पर उच्च फलदायिनी हो। इस तरहकी योगपद्धति अध्यात्मयोग है। पर इस योगमार्गमें अग्रसर होनेवालेको सबसे पहले अपने अन्तःकरणमें विश्वासकी दृढ़ धारणा करनी होगी। केवल विश्वास ही नहीं बल्कि बुद्धिके द्वारा दृढ़ धारणा करनी होगी कि जो कुछ हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वा सुनते हैं, प्रत्येक वस्तु, घटना, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, रक्ष, भूत, प्रेत पिशाच ये सब ब्रह्मके नाना प्रकारके विकास हैं,

सबमें भगवानका अंश है। उससे भिन्न इस संसारमें कोई वस्तु नहीं है। हमें अपना कार्य, आचार, विचार, आहार, व्यवहार स्वभाव आदि सबको इसी ज्ञानके अनुगामी करना होगा जिससे हम लोग कभी भी इस बातको भूल न जायं कि इस संसारमें उस ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। इस धारणाको आत्मगत करके हम उस परब्रह्मके निकट प्रार्थना करेंगे जो कभी पुरुष, कभी प्रकृति, कभी सान्त, कभी अनन्त, कभी एक, कभी अनेक हो जाता है, जिसने अपनी सनातन सत्ताके अनुसार स्वर्गलोग, मर्त्यलोक और रसातलकी सृष्टि की है, जिसने अपनी आत्माको देवता, मनुष्य पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग आदि नाना रूपोंमें प्रगट किया है, जो तीनों जगतमें समभावसे विराजमान है।

यह आत्मोत्सर्ग विना किसी विघ्नवाधाके अनवरत रूपसे होना चाहिये। इस ज्ञान सूत्रकी गति एक वार भी रुक जानेसे काम नहीं चल सकता ; जीवनकी प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक घटना और प्रत्येक कार्यमें भगवानकी प्रेरणा है, इस धारणाको अधिकाधिक दृढ़ करनेका इससे बढ़कर कोई दूसरा उपाय

नहीं है। हमें इसी भगवत् ज्ञानकी मनमें धारणा रखकर ही अपना काम करना होगा। भगवानसे अतिरिक्त हम कोई स्वतन्त्र जीव हैं इस बातकी धारणा हमें अपने हृदयमें क्षणभरके लिये भी नहीं लाना होगा। हमारे पास कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम अपनी कह सकें, सब वस्तु भगवानकी है, यह जीवन उसीके लिये है, हमारी वासना, हमारी कामना, हमारा मतामत, हमारा आदर्श, उचित अनुचित, सम्भव असम्भव—जो कुछ ज्ञान है उन सबको इसी भगवत् ज्ञानके अनुगामी करना होगा। हृदयकी समस्त आशा आकांक्षा एवं बुद्धिके सब विकारोंको हटाना होगा। धारणा करनी होगी कि यह जगत् और हम अभिन्न हैं, इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके भीतर सत्-चित्-आनन्द स्थित हैं, यह सब उसी परब्रह्मके विकास हैं, वेही इस विश्वपटपर ज्ञान, शक्ति और प्रेमकी अनन्त लीला प्रगट करते और दिखलाते हैं। सभी प्रकारके भेद भावोंको दूर करके, उस विश्वशिल्पीके हाथमें अपनेको खिलौनेकी तरह समर्पण करके निश्चिन्त होनेसे ही परम आनन्द मिल सकेगा। अहंकार इस उत्तम योग मार्गका कण्टक

है, अहंकार दूर होनेसे भगवानकी पूर्ण लीला हम लोगोंके जीवन कुञ्जमें अभिनीत होगी, पूर्णज्ञान, प्रेम, आनन्द और शान्तिसे हमारा यह जीवन पूर्णरूपसे विकसित हो उठेगा और तभी हम दिव्य जीवनका उपभोग कर सकेंगे; क्योंकि तब हमारा जीवन भगवत् लीलाका आधार स्वरूप बन जायगा। इस प्रकारका आत्मोत्सर्ग यदि साधक अंशतः भी कर सकेंगे तो उनके कुसंस्कारोंकी दुष्प्रवृत्तियाँ और बुरे कर्मोंकी ओर झुकानेवाली अन्धचेष्टाकी वृत्तियाँ दूर हो जायँगी। जिस प्रकार इञ्जन चलानेवालेकी मर्जीके अनुसार ही गाड़ी चलती है उसी प्रकार हमारा जीवन-रथ भगवानके हाथमें होगा। उस समय इस भँवरमें भगवानही हमारे साधक होंगे और हमारे जीवनकी सारी अशुद्धियां और दोष गुणको दूर करके फिर वही सिद्ध होंगे। उनकी दैवशक्ति ही उस समय शुद्धिका विधान करेगी। हम लोग जिस बनावटी योगक्रियाका अवलम्बन करते हैं वह सदा फलवती नहीं भी हो सकती। किन्तु भगवानके आदेशानुसार सर्वान्तर्यामिनी काली शक्ति जब हमारे जीवनको भगवानकी लीलाभूमिके उपयोगी बनानेमें

लग जायगी तब हमारी शुद्धि अवश्य होगी। अनन्त कालसे निविड़ अन्धकारमें पड़े जीवनके किस कोनेमें कौन शत्रु छिपा पड़ा है, उसका पता लगानेमें शायद हमारी काल्पनिक शक्ति और साधना असफल हों किन्तु प्रकृतिकी अन्तर्भेदी और अचूक दृष्टि पथपर पड़नेसे उसकी रक्षाका कोई उपाय नहीं है। इसी कारणसे राजयोग, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, भक्ति, त्याग आदिके फल प्रभावशाली और बलिष्ठ होते हुए भी अध्यात्मयोगकी तुलनामें निर्बल और अधूरे होते हैं। उपरोक्त योग क्रियायें मनुष्यकी साधना शक्तिके अनुसार ही सम्पादित होती हैं। अतएव इन सबोंके फल कितने ही अंशमें सीमाबद्ध हैं; किन्तु अध्यात्मयोगका परिणाम किसीके अधीन नहीं, क्योंकि अनन्त शक्तिशाली भगवानके इच्छानुसार ही यह साधित होता है।

जगत्के कल्याणके हेतु भगवान मनुष्यको आवश्यकतानुसार उन्नत बना देते हैं। पर इस उन्नतिकी मात्रा और सीमा उसकी इच्छापर ही निर्भर है।

४

# आत्म समर्पण ।

प्रतिदिन प्रात:काल पूर्वाकाशमें अपनी दिव्य छटाको फैलाते हुए, दिगदिगन्तको अपने अपूर्व तेजसे आलोकित करते हुए, प्रात: रश्मिसे नभो-मण्डलको लालिमामय करते हुए अरुण सारथि सहित अखण्डमण्डलाकार सूर्यदेव अपनी सहस्त्र रश्मियोंके साथ उदय होते हैं, और अपने प्रचण्ड तेजसे धरातलके प्रत्येक प्राणीको भयभीत करते हुए अन्तको पश्चिमाकाशमें जाकर विलीन हो जाते हैं, यह क्या है। यह भी भगवानकी लीला है। प्रात:कालीन मन्द समीरके सहारे अपनी सुरभिको दशों दिशाओंमें फैलाते पुष्पनिचय जो मस्त क्रीड़ा करते हैं, यह क्या है ? यह भी भगवान-की लीला है। जीव नरदेह पाकर प्रतिदिन, प्रतिक्षण हर्ष, विषाद, क्रोध, भय आदि संसारकी विविध-मयी घटनाओंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारसे परि-वर्तित हुआ करता है, यह भी उसी भगवानकी

लीलाका फल है। इस संसारकी सभी वस्तुयें चाहे वे गोचर हों या अगोचर उसकी खिलौना हैं, उनके साथ वह मनमाना नाना प्रकारकी क्रीड़ा किया करता है। इस लीलाका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये साधकको सबसे पहले भगवानके चरणोंमें आत्मसमर्पणका संकल्प करना होगा। इस अध्यात्मयोगकी प्रथम दीक्षा आत्मसमर्पण ही है।

पर यदि हृदयमें किसी तरहकी आशा लगी है, किसी तरहकी आकांक्षा बनी है और किसी आदर्श तक पहुंचनेकी अभिलाषा तरंगे मार रही हैं और इन सबोंसे प्रेरित होकर आत्मसमर्पण किया जाय तो वह कभी भी सार्थक नहीं हो सकता। चञ्चल मनको, इन्द्रियोंकी वृत्तिको चारों ओरसे खींचकर उसी परब्रह्म परमेश्वरके चरणोंमें समर्पित कर देना होगा। इस महाव्रतको आरम्भ करनेके लिये, इस महानुष्ठानमें दीक्षित होनेके लिये मनकी समग्र-वृत्तियोंको बटोरकर एकत्र करना होगा। यह वही जानता है कि हमें आधार बनाकर वह कौनसा खेल खेलना चाहता है, अपनी विचित्र लीलाके किस अंशका अभिनय करेगा। हम तो केवल उसके

आधारमात्र हैं, वह सूत्रधार है और हम पात्र हैं। इसलिये तन, मन अपना सब कुछ उसको सौंप दो। इसके लिये कोई शर्त मत करो, कुछ मांगन मत मांगो, योगसिद्धिकी भी अभिलाषा मत रखो। बस, हृदयमें केवल यही एक आशा और विश्वास रखो कि उसकी लीला केवल तुम्हारे द्वारा ही चरितार्थ हो। जो लोग किसी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये अर्थात् सकाम साधना (उपासना) करते हैं, ईश्वर उनकी अभिलाषा अवश्य पूरी करता है, पर जो लोग निष्काम आत्मसमर्पण करते हैं उन्हें वह सर्वस्व समर्पण कर देता है अर्थात् अपना अनन्य प्रेम वह उनपर निछावर कर देता है कहा भी है :—

*हम भक्तनके भक्त हमारे।*
*सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह ब्रत टरत न टारे॥*
*भक्तै काज लाज हिय धरि कै, पाइं पयादे धाऊं।*
*जहं जहं भीर परै भक्तन पै, तहं तहं जाइ छुड़ाऊं॥*
*जो मम भक्त सौं बैर करत है, सो निज बैरी मोरो।*
*देखि विचारि भक्त हित कारन, हांकत हौं रथ तेरो॥*
*जीते जीत भक्त अपने की, हारे हारि विचारौं।*
*'सूरदास' सुनि भक्त विरोधी, चक्र सुदर्सन मारौं॥*

इस संसाररूपी रङ्गमञ्चपर जो मनुष्य जिस प्रकारका अभिनय करना चाहता है, जिस रंगरूपमें अपनेको सजाना चाहता है भगवान अनुग्रह करके उसके अनुरूप ही उसको साधन सम्प्रदान कर देते हैं। परन्तु जो उसका अन्धभक्त है जो विना किसी आशा और आकांक्षाके पूर्णतः अपनेको उसके अङ्कमें समर्पित कर देता है उसके लिये जितनी तत्परता और एकाग्रतासे वह साधन संग्रह करेगा, उसके मुकाबिलेमें और कुछ नहीं हो सकता। तैलङ्ग स्वामी जो अभिनय करना चाहते थे, गुरु नानकने जो अभिनय करना चाहा था, राजा राममोहनरायने जो स्वांग रचा था. विजयकृष्ण स्वामीसे लेकर रामकृष्ण परमहँस विवेकानन्द प्रभृतिने जो अभिनय किया था और जिस अभिनयकी लीलाको देखकर मुग्ध होकर जिस कसी अन्य अभिनयाचार्यने उस लीलाका अनुकरण करना चाहा था, उसके लिये यदि यह कहा जाय कि इनकी चेष्टा व्यर्थ थी, इनका प्रयास बिडम्बना था तो यह अनर्थ अपवाद होगा। लालसा तो लालसा ही है चाहे वह भली हो या बुरी। लालसासे प्रेरित होकर कोई भी कार्य करना अक-

र्तव्य है। इसलिये पूर्णयोगी होनेके लिये यह आवश्यक है कि विना किसी प्रकारके पूर्वापर विचारके अपना सर्वस्व प्रभुके चरणोंमें अर्पणकर शान्ति लाभ करना चाहिये, क्योंकि वह अपनी इच्छाके अनुरूप मनुष्यको जिस रङ्गमें रङ्गना चाहता है रङ्ग देता है, जो साज पहनाना चाहता है पहना देता है, जिस वेषमें खड़ा करना चाहता है, खड़ा कर देता है, चाहे वह वेष चैतन्यका हो, रामानुजका हो या अन्य किसीका हो। जिस योगीने आत्मसमर्पण कर दिया है उसके हृदयमें सदा और सर्वदा समता तथा शान्तिकी विमल ज्योति देदीप्यमान रहती है।

जिस योगीने आत्मसमर्पण कर दिया है उसका कोई प्रतियोगी नहीं हो सकता। उसको आधारभूत बनाकर भगवान जो कुछ चाहते हैं करते हैं। जो साधक आत्मसमर्पण मन्त्रको सिद्ध कर लेता है अर्थात् विना किसी इच्छा, अभिलाषाके भगवानके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देता है, उस पर भगवान कल्पतरु होकर सभी उपभोगोंकी वर्षा करते हैं, उसे अपने हृदयमें प्रेमसे लगा लेते हैं, उसे अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं। वही भगवानकी अनन्त

लीलाका साक्षी होकर अनन्त काल तक, अनन्त सृष्टितक जीवनकी यन्त्रणासे मुक्त होकर परमानन्द पदको प्राप्त होता है।

जिस समय हम आत्मसमर्पण करनेके लिये अग्रसर होते हैं, आत्मसमर्पण करनेके लिये तैयार होते हैं, उस समय हमारे हृदयकी दशा और चित्तकी वृत्ति विचित्र प्रकारकी रहती है। जन्म जन्मान्तरके किये अशुद्ध संस्कार चट्टानकी भाँति अटल स्थान जमाये एक ओर खड़े रहते हैं, हृदयमें जड़ जमाये प्राचीन भावोंके प्रति प्रबल अनुराग बना रहता है, अपने सहज स्वभावके अनुसार इन्द्रियां इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली नाना प्रकारकी वस्तु-ओंसे आसक्ति रखती हैं, उन्हें छोड़कर अलग नहीं होना चाहतीं। इतनी विघ्न बाधाओं और अशुभ संस्कारोंसे परिवेष्टित हृदयकी वृत्तिको जबतक पूर्ण रूपसे शुद्ध न कर लें, सच्चिदानन्दके चरणोंका मनुष्य अधिकारी नहीं हो सकता, भिन्न भिन्न प्रका-रकी योगप्रणालियोंको स्वीकार करनेमें आत्मशुद्धिके लिये भिन्न भिन्न प्रकारके उपाय करने पड़ते हैं, किन्तु जिस साधकने आत्मसमर्पणका योग धारण किया

उसके लिये सब कुछ स्वयं भगवान करते हैं। जब साधक समग्ररूपसे अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा लीलामय श्रीहरिके चरण कमलोंमें अपनेको समर्पित कर देता है उसके बाद भगवानकी शक्ति किस प्रकार साधकको परिशुद्ध करके अपने योग्य बनाती है, इस बातको हमें सदा दर्शकके रूपमें देखते रहना चाहिये।

यही साधनाका द्वितीय पथ है। इस अवस्थापर पहुंच कर साधकको अपूर्व साहस और धैर्यका परिचय देना पड़ता है। इस अवस्थामें जीवनके ऊपर अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ, विघ्नबाधायें, दुःख, क्लेश, रोमाञ्चकारी घटनायें, एक एक करके उपस्थित होंगी, एक एक करके अपना प्रभाव या मायाजाल फैलावेंगी, एक आवेगी तो दूसरी जायगी। इस प्रकार घटनाचक्र रथचक्रकी भाँति ऊपर नीचे चक्कर मारा करेगा, कभी दुःख आवेगा, कभी सुख आवेगा। इस अवस्थामें साधकको पर्वतकी तरह अटल होकर, अपना आसन दृढ़ जमाकर रहना पड़ेगा। किसी तरह भी उसे विचलित नहीं होना पड़ेगा। प्रत्येक क्षण उसे इस बातका ध्यान रखना होगा कि यदि

अशुद्धताका लेशमात्र भी इस शरीरके अन्दर रह जायगा तो यह जीवन यन्त्र किसी भी अवस्थामें परि-पूर्ण नहीं हो सकता, सदा अस्थिर बना रहेगा। अनेक प्रकारकी अशुद्धियोंको दूर करके इसे शुद्ध बनाना ही इसका सारा उद्द श्य है। जीवन मरणसे सर्वथा उदासीन होकर ही इस साधनाके पथपर अग्रसर होना पड़ेगा। जबतक मनमें अटल श्रद्धा या विश्वास अपना दृढ़ आसन नहीं जमा लेगा तबतक जगदी-श्वरके हाथोंमें अपनेको सौंपकर इस योगसाधनाके द्वितीय मार्गपर स्थिर रह सकना भी एक तरहसे असम्भव है।

अशुद्धताके नाना रूप और विधान हैं। पर आशंका और सन्देह सबसे विषम हैं। जिस समय अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ आ आकर इस शरीरको चारों ओरसे घेर लेती हैं और चित्तमें उद्वेग पैदा करने लगती हैं उस समय अनेक तरहके भाव मनमें उठने लगते हैं, जैसे अब उद्धारका कोई उपाय नहीं, इस बार नाश होना अवश्यम्भावी है। इस तरहकी आशंकाओंका फल यह होता है कि भगवानके प्रति साधकका विश्वास उठने लगता है। इस तरह

विश्वासके लोप होनेसे अनेक साधक अहंकारके वशवर्ती होकर अहंकारके कारण होनेवाली घटनाओं-को दूर करनेके लिये अपनी चित्त वृत्तिको सचेष्ट करते हैं, अहंकारकी पूर्ण लीला होने लगती है और साधक योग युक्त होजाता है।

साधकमें वर्तमान अहंकारको पूरी तौरसे मिटा देनेके लिये ईश्वरकी संहारिणी शक्ति जीवके चारों ओर प्रलयकी नाईं प्रचण्ड अग्नि जाज्वल्यमान करती है। उस समय साधकको सत्संगमें रहना चाहिये। यदि सत्संगका अभाव हो तो आत्मसमर्पणमें तल्लीन रहना चाहिये और भगवानके गीतामें कथित वाक्य-को स्मरण रखना चाहिये कि:—

*मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति*

अर्थात् तू पूर्णतः आत्मसमर्पण कर दे मनसा, वाचा, कर्मणा मुझे अर्पण कर दे तभी तेरा कल्याण हो सकता है, सारी कठिनाइयों, आपत्तियों और विपत्तियोंसे पार हो सकता है। बस, केवल एक-मात्र रक्षाका यही उपाय है। नहीं तो योगभ्रष्ट हो जाना अनिवार्य है। मनमें सदा इस बातको स्मरण

करते रहना होगा कि हमने आत्मसमर्पण किया है। हमारे जीवनकी पापमय वृत्तियोंका नाश करनेके लिये, हृदयकी अशुद्धता दूर करनेके लिये चाहे कितनी भी भीषण घटनायें क्यों न हों, हम एक दमसे कोल्हूमें ही क्यों न पेल दिये जायँ, हमें इन सब बातोंसे उदासीन रहना चाहिये। हमने अपना सर्वस्व उसके चरणोंपर अर्पण कर दिया है। अब वह वस्तु उसकी हो गई है। उसकी इच्छा हो वह रक्षा करे चाहे नष्ट कर दे। इस प्रकारका दृढ़ विश्वास हृदयमें जमाकर जो लोग योग साधनाके लिये आगे पैर बढ़ावेंगे उनकी साधना अवश्य पूरी होगी, उन्हें इस अध्यात्मयोगमें अवश्य सफलता मिलेगी इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं, यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है।

इस अवस्थामें साधकको सदा इस बातका स्मरण करते रहना होगा कि स्वयं सच्चिदानन्द परमेश्वर साधक बनकर हमारे बीचमें काम कर रहे हैं। उनकी महान चेष्टाके मुकाबिले हमारी तुच्छ चेष्टाकी कोई गणना नहीं। इस तरहके अटल विश्वाससे अहंकारका अवश्य ही नाश हो जायगा

और साधक भगवानकी करुणा और अनुकम्पाका पात्र बनकर परमानन्द पदको प्राप्त होगा। इतना करनेपर भी यदि जीवन नैया किसी भीषणतम संसार-चक्रके बवण्डरमें पड़कर डगमगा उठे तो उस समय भी साधक धैर्य्यपूर्वक भगवानके वचनको स्मरण करता रहेगा :—

*सर्वान् धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*
*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः॥*

अर्थात् समस्त धर्मोंको (नियम, कायदा, कानून, चाहे वे प्रकृतिसे या विश्वाससे बन गये हों, चाहे किसी बाहरी शक्तिद्वारा निर्मित हों) छोड़ दो, केवल एकमात्र मेरा स्मरण करो और मेरे शरणागत हो। मैं तुम्हें सारे पापों और कुवृत्तियोंसे बाहर निकालूंगा। भगवान कहते हैं—हमी धर्म हैं, कर्म हैं, मार्ग हैं, उपाय हैं। जो समस्त संसारसे नाता तोड़कर हमसे ही नाता जोड़ते हैं, हमारा ही एकमात्र आश्रय लेते हैं, उनका सम्पूण पाप नाशकर कर अवश्य अभय दान देते हैं। भगवानने अपने ही मुहसे कहा है—'मा शुचः' अर्थात् शोकमें निमग्न मत

हो, दुःख मत करो, भयको दूर करो—हम तुम्हारी रक्षा करेंगे, तुम्हें मुक्त करेंगे—इस लिये हे भगवन् तू हमें विपत्तिसे मुक्त कर।

इस प्रकार तन मन लगाकर भगवानके सामने विनीत भावसे प्रार्थना करो। अब तुम्हें विपत्तिसे क्या प्रयोजन ? और तुम्हारा यत्न अथवा चेष्टा क्या ? तुम्हारी गणना ही क्या है। क्या तुम्हारी सामर्थ्य ऐसी है कि तुम भगवानके विषयमें लेशमात्र भी किसी तरहका परिवर्तन कर सकते हो ? जब तुमने आत्म-समर्पण कर दिया है तो तुम्हें किसी तरहकी आशंकाको स्थान न देना चाहिये। फिर तुम्हें जिम्मेदारीकी ही क्या परवा होनी चाहिये। जो भगवान समस्त प्राणियोंका आधार स्वरूप है जो इस अनन्त सृष्टिका रचयिता और पालक है वही तुम्हारा भी कर्ता, पालक, रक्षक और देवता है। तुम्हारे इस क्षुद्र देहयन्त्रका वही नियन्ता है। इस शरीरके ऊपर चाहे कितनी भारी विपत्ति आकर गिरे घृणितसे घृणित और कष्टकर व्याधियोंसे यह शरीर घिरकर जीर्णशीर्ण हो जाय, तुम प्रबल प्रचण्ड पापोंसे घिर कर पड़े रहो, भीषणसे भीषण आतंकमें फँसे रहो,

तुम्हें कभी भी घबराना नहीं चाहिये, तुम्हें सदा स्मरण रखना चाहिये कि भगवानने कहा है—"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" अपने हृदयको, चित्तकी वृत्तियोंको सदा निर्भत्स्नी पूर्वक प्रबोधन देते रहो—ऐ अविश्वासी क्षुद्रतम चित्तकी वृत्तियां! भगवानके निज मुखसे कथित वचनको—अभयदानके वचनको—सुनकर भी अहंकारके माया-जालमें पड़कर मुक्तिके उपाय तपस्यादिमें रत होनेसे दूर भागता फिरता क्यों है? केवल एक बार मनसा, वाचा, कर्मणा, उस सच्चिदानन्द परम पुरुष परमेश्वर-के हाथोंमें अपनेको समर्पित करके वीरकी भाँति केवल देखो कि तुम्हारे भीषणसे भीषण पापोंके बोझ-को भगवान अपनी स्वभावगत दयाके सहारे किस तरह उठाकर तुमसे दूर फेंक देते हैं और तुम्हें परमा-नन्दके अगाध सागरमें निमज्जित कर देते हैं। जब तक अशुद्धता रहेगी तबतक द्वन्द्व, क्लेश, यन्त्रणा होती रहेंगी। तुम्हें एक बार स्मरण करना होगा कि इन व्याधियोंको दूर कर तुम्हें इनके स्थानपर अमृत धारा बहाना है।

योगका यह द्वितीय द्वार है। इस द्वारपर आकर तुम्हें विविध प्रकारकी बाधाओंके साथ संग्राम करने-

का प्रयास नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँपर तुम केवल दर्शक मात्र हो। जितनी ही चञ्चलता उत्पन्न हो, मन जितना ही परिचलायमान हो, उतना ही अधिक भगवानकी तरफ़ बढ़नेकी चेष्टा करो, उतना ही अधिक उसपर निर्भर कर जाव। इस योगके मार्ग-में जो लोग आगे बढ़ गये हैं, जिन लोगोंने कुछ सिद्धि प्राप्त कर ली है, उनका सहवास करो। एक बात सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि यह आत्म-समर्पणका योग देखने और सुननेमें जितना सहज और सरल प्रतीत होता है, कार्यक्रममें लानेपर वास्तवमें वैसा नहीं है। यदि केवल इतना कहने या स्मरण करनेमात्रसे ही जीवन पवित्र हो जाय कि हमने आत्म-समर्पण कर दिया है तो फिर अन्य बातोंकी आवश्यकता ही कहाँ से रह जाती है। जीवन केवल इन्द्रजाल ही नहीं है। जिस प्रकार तिल तिल करके तुम्हारे शरीरमें अहंकारकी मात्रा बढ़ी है और आज इतना प्रबलरूप धारण करके तुममें विद्यमान है, उसी प्रकार शनैः शनैः उस अहंकारका नाश होगा और तभी तुम सारे दुःखों, संकटों और वेदनाओंसे मुक्त होगे। प्रत्येक आघात पर तुम्हें यह प्रतीत होगा कि

बस, अब इस बार नाश हुआ, अब रक्षा असम्भव है पर भगवानकी वाणी सदा स्मरण रखना। उन्होंने घोर गम्भीर ध्वनिसे कहा है—"किसी प्रकारका भय मत करो, भयका कोई कारण नहीं, मैं तुम्हारे सम्पूर्ण भयोंका नाश कर दूंगा। मा शुचः।"
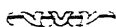
## योगका आधार।

आत्म-समर्पणका संकल्प कर लेनेपर, हृदयमें यह दृढ़ कर लेनेपर कि हम मनसा, वाचा तथा कर्मणा भगवानके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर देंगे फिर मनुष्यको स्वयं करणीय कोई काम नहीं रह जाता अर्थात् उसे इस विषयकी चिन्ता नहीं रह जाती कि हमें अमुक कार्य करना है, हम इसके विधायक हैं, हमारे विना यह काम नहीं हो सकता। वह केवल दर्शकमात्र रह जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षणपर जो-जो घटनायें घटित होती हैं, उन्हें केवल मात्र वह देखता रहता है। उसे अपनेको पुरुष मान लेना

पड़ता है और यह धारणा कर लेनी पड़ती है कि हमारे सब कार्योंकी देख रेख करनेवाला परम पुरुष परमात्मा है, अपनी रुचि और इच्छाके अनुसार जो कुछ वह अच्छा समझता है करता है। हम केवल दर्शकमात्र हैं। जब हमने पूर्णरूपसे अपनेको भगवान-के चरणोंमें समर्पित कर दिया तो वह अपनी रुचि और इच्छाके अनुसार हमारा मनमाना उपयोग कर सकता है। उसके काममें फिर हमें बाधा उपस्थित करनेका कोई अधिकार नहीं है। हमारी हालत ठीक यज्ञके यजमानकी तरह है। किसी काममें हस्तक्षेप करनेका उसे अधिकार नहीं है, पर उसकी उपस्थिति सदा अनिवार्य और आवश्यक है। उसे सदा इस बातकी चेष्टा रखनी होती है कि यज्ञ किसी तरह पूर्ण हो और उसके पूर्ण करनेके सभी साधनोंका भार उसे अपने ऊपर उठाना पड़ता है। ठीक वही हालत साधककी है। उसे भी सदा इस बातका ध्यान रखना पड़ता है, सदा सचेष्ट रहना पड़ता है कि भग-वान हमें आधार बनाकर जो लीला करना चाहते हैं उसका भार हम पूर्णरूपसे सम्हालते जायँ, उनके कार्यमें सदा योग देते जायं, उनकी लीलासे जो

परिणाम निकले उसको शान्त तथा अविहित चित्तसे भोगते जायं, क्योंकि सब कार्य भगवानका है, वही शक्तिरूपसे संहारिणी मूर्ति होकर आद्यन्तसे पूर्ण विधान पूर्वक यज्ञकी समाप्ति करता है। यही उसकी लीला है। तुम्हें केवल यजमान बनकर सब साधन एकत्र करके ठीक कर देना होगा और भगवानके चरणोंमें समर्पित कर देना होगा। इस तरह समर्पित की हुई सम्पूर्ण सामग्री यथाविधि शक्तिरूप श्रीकृष्ण-के चरणोंमें समर्पित होगी। तुम्हें निरपेक्ष होकर प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक घटनाको देखते रहना होगा, पर तुम्हें किसीका प्रतिवाद नहीं करना होगा, क्योंकि जिस वस्तुको तुमने दूसरेको समर्पित कर दिया उस पर तुम्हारा किसी तरहका अधिकार नहीं रहा, फिर अनधिकार चेष्टा करनेसे जीवन-यज्ञके फलका तुम ठीक तरहसे उपभोग नहीं कर सकोगे। आत्मसमर्पणका योग ग्रहण कर लेनेके बाद तुम्हारे हृदयसे यह भाव दूर हो जाना चाहिये कि तुम्हीं भगवानके कार्योंके आधार हो, इस भावको चिर कालके लिये दूर कर देनेपर तुम्हारे हृदयसे यह भाव दूर हो जायगा कि तुम कर्त्ता हो। तुम

केवल साधक मात्र हो, कार्यके आधारभूत हो, मजूर हो, करनेवाली अर्थात् सम्पूर्ण कार्योंका सम्पादन करनेवाली आदि शक्ति है। इसलिये उस कार्यकी किसी प्रकारकी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर नहीं है। इस अवस्थाका ज्ञान लाभ करनेके लिये सर्व प्रथम जीवको आधारके सम्बन्धमें साधारण ज्ञान प्राप्त करना होगा। आधार हैं, शरीर, प्राण, चित्त, मन व बुद्धि। इनके रहनेसे ही जीव जाग्रत अवस्थामें माना जाता है। इन्हीं सबोंके साथ और संसर्गमें रहकर जीवको सर्व प्रथम साधनामें प्रवृत्त होना पड़ता है। इन सबोंकी यथाविधि शुद्धि हो जानेपर इनके अतिरिक्त शुद्धिका जो स्थान है वह बुद्धिके सामर्थ्यके बाहर है और उस स्थानपर पहुँच जानेपर तुम फिर देवलोकके पुरुष हो जाते हो। पर यदि तुम्हारा सम्पर्क नीचेकी इन साधारण बातोंसे अतिशय करके गन्दा रहता है तो फिर तुम्हें किसी उपायसे भी उत्तम गति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये समस्तरूपसे इस जाग्रत जीवनके समस्त आधारके साथ सम्बन्ध त्याग करके उन्हें आदिशक्तिके हाथोंमें समर्पित कर देना ही उत्तम होगा। मैं देह, प्राण, मन या बुद्धि नहीं हूँ, इसका

पूर्णरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, इन सबोंके साथ हमारा जो सम्बन्ध है अर्थात् ये हमारे अङ्ग हैं, हमारे शरीरके अवयव हैं, इस तरहका जो एक अहंकारिक भाव हममें व्याप रहा है उसे उठाकर दूर फेंक देना होगा। इसके लिये साधकको कुछ काल तक इस बातका स्मरण करते रहना होगा कि आधारभूत हमसे जो कुछ कार्य निस्पादन होता है सबमें भगवानकी ही प्रेरणा है। शरीरकी व्याधि मनकी चञ्चलता, चित्तकी प्रवृत्तिका वासनाओंकी ओर एकान्ततासे झुक जाना, अनेक तरहकी कामनाकी तरङ्गोंका चित्तमें उठना, चित्तका प्रबल संस्कार, मनकी अनुपम चञ्चलता बुद्धिकी उद्भट कल्पना आदि जो कुछ है, उनके साथ हमारा किसी तरहका सम्बन्ध नहीं है। ये सब उस आधारकी दूषित वृत्तियां हैं। इनका क्रमिक विकास, निवर्तन और परिवर्धन सब कुछ उसी आदि शक्तिकी इच्छाके अनुसार होता है, और उसकी इच्छासे ही इनमें समता आ सकती है। इस प्रकारके विश्वास युक्त होकर कुछ काल तक स्थित रहनेसे हां आत्म शुद्धि हो जाती है और बुद्धि परिपक्व होकर ऊर्ध्वगामी होती है अर्थात् विज्ञान बुद्धिको प्राप्त होती

है। यह विज्ञान-बुद्धि साधारण बुद्धिका द्वितीय उत्कृष्ट स्थान है। इस स्थानपर पहुंचनेपर अविकृत सत्य अनाविल ज्ञानभाव, शक्ति, आनन्दका अनवरत श्रोत बहने लगता है। यह योगियोंके निवासका स्थान है। इस स्थानपर पहुंचकर मनुष्य और ईश्वर-में एकत्वका भाव उदय होता है। उस समय समझ-में आता है कि मनुष्य और ईश्वरमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्रमें सेनापतिगण कमानसे अनेक दूरीपर रहकर केवल बैटरीकी सहायतासे सेनाका परिचालन करते हैं और उसमें किसी प्र-कारकी त्रुटि नहीं होने पाती, उसी प्रकार इस वि-ज्ञान कोषमें आसन जमाकर जीव जिस समय जाग्रत जीवनका सञ्चालन करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है, उसी समय वह शुद्ध तथा मुक्त माना जाता है, उस समय उसे अविरल मुक्तिका मार्ग मिल जाता है और परमानन्दमें सदा और सर्वदाके लिये निरत होनेका उसे अवसर मिलता है।

आज कल लोगोंमें एक प्रकारकी हवा बह रही है। लोग सत्ययुगके नामपर बेतरह लट्टू हैं। जिसे देखिये वही यह कहता सुनाई देता है कि सत्ययुग अब

नहीं रहा, ईमानदारी, विश्वास, सत्यता सब इस संसारसे उठ गई। अब कलियुग आया है, पापाचार दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है और बढ़ता चला जा रहा है। पर किसीने एक बार भी विचार नहीं किया कि यह सत्ययुग क्या है। सत्ययुग कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो जन्मजन्मान्तरमें किसी एक नियमित समयपर ही आवेगी और फिर चिरकालके लिये दृष्टि-पथसे ओझल हो जायगी। हम अपना सत्ययुग और कलियुग अपनी प्रेरणासे आप बना सकते हैं। जिस समय मनुष्य इस जाग्रत जीवनका अधिकार उड़ा कर इस सूक्ष्म स्थानपर पहुंच जाता है, वासना कामना, संस्कार आदिसे किसी तरहका सम्बन्ध नहीं रखता, इस पार्थिव शरीरमें अवस्थाभेदके अ-नुसार अपने जीवनकी अवस्थाभेदकी समता नहीं रखता अर्थात् आधार और आधेय इन दोनोंकी भिन्नता पूर्णरूपसे अलग अलग कर देगा उसी समय इस संसारमें स्वर्गीय राज्यका पुनः उदय हो जायगा, यही सत्ययुग है। इस समय पृथ्वीतलपर रहनेवाली मानव जाति बुद्धि, मन और शरीरको ही सर्वप्रधान मानती और बतलाती है, इन्हींके चक्करमें

पड़ी वह नाना प्रकारकी लीलायें किया करती है। स्वर्ग लोककी खोज खबर वह नहीं रखना चाहती। वहाँकी चर्चा वह एक दम भूल गई है। आज फिर नये सिरेसे हमें अनुष्ठान करना होगा। शक्तिको पुनः जगाना होगा। अहङ्कारका सिर हमें नीचा करके रखना होगा। हम दिव्य लोकके अधिकारी हैं, इस बातका हमें फिरसे ज्ञान प्राप्त करना होगा। इसीसे सत्ययुगकी पुनः स्थापना होगी और इसीलिये साधना तथा तपस्याका सारा प्रयास है। यदि इस प्रयाससे हमलोग एक बार भी उस स्थान तक पहुंच गये तो हमलोग यन्त्रणाओंसे मुक्त होकर, सिद्ध बनकर सत्य और आनन्दकी लीलामें रहकर इसी मृत्यलोकको ही स्वर्ग बना देंगे। उस युगके लोग (अर्थात् सत्ययुगके जीव) इस स्वर्ग धामका पता लगाकर इस पृथ्वीतलसे सम्बन्ध त्यागकर उस महत् धामको पहुंचते थे। पर आज हमलोग इस योगके द्वारा स्वर्ग लोकके अधिकारी बनकर भी इस पृथ्वीसे सम्बन्ध नहीं त्यागेंगे। जिस प्रकार तपस्वी भगीरथ स्वर्गसे गङ्गाकी धारा बहाकर इस अवनीतलको पवित्र कर सके, उसी प्रकार हम लोग भी

अमृतका भांड लेकर इस संसारमें ही अमरलोककी लीला करेंगे, इस मृर्त्यलोकमें ही स्वर्गकी लीलाका आनन्द लेंगे। वही लीला देवलीला है। श्रीकृष्ण-चन्द्रने भगवद्गीतामें उसी लोलाके सम्बन्धमें कहा है।

*मैयेव मन आधत्स्व,मयि बुद्धिं निवेशय,*

*निवसिष्यासि मैयेव अत ऊर्ध्वं न संशयः*

अपना मन मुझमें लगावो, अपनी बुद्धि मुझमें लगा दो, क्योंकि ऐसा कर लेनेपर निस्सन्देह तुम्हारी आत्मा हममें प्रविष्ठ हो जायगी। मन और बुद्धि-को हमारेमें मिला देनेसे "अत ऊर्ध्व" अर्थात् मन और बुद्धिसे आगे जा सूक्ष्म स्थान है उसमें अर्थात् मुझ-में ही तुम्हारा निवास होगा। जीव जिस समय मायाके फन्दे से छूट जाता है और भेदभावका वि-चार उसके मनसे दूर हो जाता है उस समय उसे ज्ञान होता है और वह दिव्य दृष्टिसे देखता है कि उसमें और ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है, अखिल ब्रह्माण्ड, यह संसार,हमारा शरीर सभी ब्रह्म-मय हैं। इसलिये हे साधक! इस तरह ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर मर्त्यलोकमें विचरण करते हुए दिव्य युगकी एक बार पुनः स्थापनाका भार तुम्हारे ही ऊपर है।

६

# सर्वं ब्रह्ममयं जगत्

योगका तीसरा पद भगवानकी सर्व-व्यापकताको स्वीकार करना है, अर्थात् यह भाव धारण करना कि भगवान सर्वदा, सब स्थानपर, सब वस्तुमें वर्त्तमान हैं। पहले पहल सब काल और सब स्थानमें इस ब्रह्म-की व्यापकताकी भावना उत्पन्न होगी। एक ही अव्यक्त, अव्यय, अचल ब्रह्म जो इस जीव जगत्का प्राण है, संस्थापक है, अव्यक्त रूपसे प्रगट होने लगेगा। इस प्रकार धीरे धीरे अनुभव बढ़ता जायगा और ऐसे स्थानपर पहुंचेगा जहां साधकको यह ज्ञान होगा कि इस संसारका समग्र पदार्थ केवल मायामात्र है, इसमें किसी तरहका सार नहीं है। अनित्य और क्षण-भंगुर इस संसारने अपरिमित, नित्य तथा सत्य इस आत्माको मायाके जालमें बाँधकर एक तरहका परदा

इसके ऊपर जाल रखा है, पञ्चतत्वसे बनी यह सृष्टि भी एक तरहका इन्द्रजाल है। यह अनित्य और मिथ्या है, इसके आगे या ऊपर जो शुद्ध सत्ता है वही सत्य और नित्य है। परन्तु जिस प्रकार शनैः शनैः दिव्य ज्ञानका प्रकाश होगा, साधकको विदित होगा कि इस अति सुन्दर और मनोहर माया राज्यके परिचालन, वर्धन तथा पोषणके निमित्त वह नित्य,शाश्वत,परब्रह्म परमात्मा केवल निरत ही नहीं रहता बल्कि वह अपनी सत्ताको प्रदानकर उसीके द्वारा इस संसारको सौन्द-र्यपूर्ण बनानेवाली समस्त सामग्रियोंसे उसे परिपूर्ण करता रहता है। बल्कि वास्तवमें यह कहना चाहिये कि वही परब्रह्म परमात्मा विविध प्रकारका रूप धारणकर नाना विश्वके नामोंसे अपने कूटस्थ भावको सृष्टिरूपसे व्यक्तकर ब्रह्माण्डमय बन गया है। प्राचीन कालके ऋषिगणने उपनिषदों तथा अन्य धर्म ग्रन्थों द्वारा जिस अमृतरूपी ज्ञानका उपदेश किया है, उनके सन्तान आर्यगणोंका जीवन उन्हींके अनुसार पुनः संगठित हो जाना चाहिये, इस बातकी केवल भावना से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि हमें प्रत्यक्षमें अनुभव करना होगा कि हम सर्वत्र विद्य-

मान हैं और संसारकी सभी वस्तुयें हमी से हैं। भगवान श्रीकृष्णने गीतामें जैसा कहा है:—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
ऐक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:

अर्थात् योगी, जिसने योगसाधनामें अपना चित्त लगा दिया है सदा और सर्वदा समदर्शी होता है, सर्व जीवमात्रमें आत्माको दर्शमान पाता है और आत्मामें समस्त प्राणीमात्रको देखता है, इस अवस्थाको पहुंचकर साधकको इस बातका ज्ञान होता है कि इस विश्वमें सचराचर ब्रह्म है और इस जगत्की प्रत्येक वस्तु ब्रह्ममय है। सर्वं खल्वमिदं ब्रह्म।

कितने लोग इस अनित्य जगत्की प्रतिष्ठा किसी अपौरुषेय सत्ताके आधारपर मानकर, इसके विमुख होकर उसी अव्यक्त गुणातीत, परब्रह्म परमेश्वरके खोजनेमें लग जाते हैं और कितने ही बौद्ध या शून्यवादियोंकी भांति जगतके कारणमें पश्चात्वर्ती गुणादि रहित, अन्तहीन, महाशून्य भेद दर्शानेके निमित्त महानिर्वाण पथकी ओर अग्रसर होते हैं। परात्पर पुरुष और इस सृष्टिकी रचनाके व्यव-

ध्यानमें जो नीरव अन्धकारसे घिरा दीर्घ पथ है इन्हीं दोनोंने परब्रह्मको संसारके मायादि दोषोंसे अपरिच्छिन्न कर रखा है क्योंकि परब्रह्मका रूप है :—

"पुरुषो वरेण्यः आदित्यवर्णस्तमसः परस्तात्"

पर आत्मसमर्पणका योग स्वीकार करने वाले साधकका सबसे बड़ा अनुभव इस बातका ज्ञान प्राप्त करना होगा कि इस संसारका प्रकाशमय होना केवल एकमात्र भगवानकी इच्छा पर ही निर्भर है। उसकी प्रकृत सत्ताके साथ इसका किसी तरहका संबंध नहीं है। यह संसारके रंगमञ्चपर जो विविध प्रकारकी घटनायें घटित हुआ करती हैं वह उसीकी लीला हैं, वही इस सृष्टिका आधार भी है और आधेय भी है। उसीकी अव्यक्त सत्ताने क्रमशः सृष्टि चातुर्य्यके रूपमें प्रगट होकर इस संसारको हरा भरा तथा रमणीक बनाकर उसीको प्रत्येक स्थल, प्रत्येक अंकुरमें विराजित कर दिया है। अपनी सत्ताको देकर ही उस परात्पर परमेश्वरने अगाध समुद्र, दुरूह पर्वतमाला, बड़े बड़े भीषण जंगल, अगणित नद तथा नदियोंसे परिवेष्ठित तथा अनन्त कोटि प्राणियोंसे युक्त इस विश्वकी, ग्रह-उपग्रहोंकी, कोटि सूर्यसे युक्त मानव

बुद्धिकी गतिसे बाहर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी रचना की है। इस अनेक प्रकारकी रचनाओंके बीच रहकर वह प्रति दिन अनेक तरहकी लीलाओंकी रचना करता रहता है। लीलामय श्रीकृष्ण अनादि और सीमा रहित होने पर भी वह व्यक्त ईश्वर है, अनन्त होते हुए भी सान्त है, शिवमय होकर भी नारायण है आनन्दकी तरङ्गोंमें लीलामय श्रीकृष्णने ही इस संसार-में विविध प्रकारके अनन्त कोटि जीवोंकी रचना की है। संक्षेपमें वह अन्त हीन है, विविध रूपसे सृष्टिकी रचना करके भी उसने सम्पूर्णको एक ही सत्तामें एक ही प्रेम-धारामें संयोजित, पुलकित उद्भासित किया है, सबमें एक ही प्रकारका आकर्षण, सबके लिये एक ही मार्ग, सब पर एकही प्रकारका प्रभुत्व बनाकर सबोंमें समभावसे निरन्तर क्रीड़ा किया करता है। इस अनादि लीलाके बीचमें उसीको आनन्द, उसीकी रचना-चातुरी, उसीकी सुन्दरता नानारूपमें व्यक्त हुई है।

यह संसार सच्चिदानन्दमय है, श्रीभगवानकी क्रीड़ा भूमि है, बल्कि उसकी क्रीड़ाका उपकरण मात्र है। इस जगतमें जड़का स्थान नहीं है। जिसको एक

जड़ समझते हैं उसको यदि ज्ञान-चक्षुसे देखते हैं तो समस्त वस्तु गुणमय दिखाई देती है। सत्व, रज और तमादि गुणोंके भेदसे संसारकी सभी वस्तुएं चैतन्यमय हैं। सबमें किसी न किसी प्रकारकी चेतना है। इन तीनों गुणोंके परस्पर संयोगसे आपसमें एक दूसरेसे मिल तथा संयुक्त होकर इन सबोंने कठोर मूर्ति धारण कर लिया है और जड़वत् प्रतीत होते हैं पर साधककी दृष्टिमें संसारके सभी पदार्थ श्रीकृष्ण-मय हैं। इस अवनीतलमें इस प्रकारसे अनन्त गुण-युक्त सच्चिदानन्द परब्रह्मकी रतिक्रीड़ा अनादि तथा अनन्त कालसे होती चली आ रही है।

जिस समय इस प्रकारके भाव हमलोगोंके हृदय-में जागृत हो उठते हैं तो इस तरहके सनातन ज्ञान हमलोगोंकी धमनियोंमें अनवरत धारा प्रवाहसे बहा करते हैं और वंश-परामपरा गत होते हैं। यदि हमलोग क्षणिक संशयके वशीभूत होकर आत्माको खो नहीं बैठते तो संसारकी अनेक तरहकी व्याधियोंसे, जैसे क्रोध, शोक, भय, दुःख आदिसे हम उसी समय मुक्त हो जाते हैं। हम लोगोंके हृदयमें अज्ञानताका जो कुछ भी भाव रहता है धीरे धीरे वह सब दूर

होने लगता है और उसी समय हम लोगोंको उपनिषद्में कथित निम्नलिखित प्रकारका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है:—

*'आनन्दम् ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन'*

उस समय जीव ब्रह्मानन्दमें निमग्न होजाता है और तब उसे संसारकी किसी भी वस्तुसे किसी प्रकारका भय नहीं रहता। भगवान श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है:—

*यस्मिन् सर्वांनि भूतानि आत्मैवाभूत विजानतः*
*तत्र का मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः*

जिस समय संसारके सभी प्राणी आत्माके साथ एक अवयवी भूत हो जाते हैं, उस समय ज्ञानीके लिये सारा भेद्भाव मिट जाता है, क्योंकि मोह बन्धनसे युक्त वह सबमें एकता देखता है। फिर वह हर प्रकारके शोक और दुःखसे मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्था-पर पहुंचने पर साधककी दृष्टिमें संसारकी सभी वस्तुयें भिन्न भिन्न रूपसे आदरणीय प्रतीत होती हैं। उसकी दृष्टिमें कुत्सित और घृणित कोई वस्तु नहीं रह जाती। उस समय इस विश्वकी समस्त वस्तुयें एक रूप धारणकर आनन्द सागरकी तरङ्गोंमें मङ्गल

तथा मधुर नृत्य करने लगती हैं। आनन्दके जयो-ल्लासमें परम शान्ति पाकर तथा असीम शक्तियुक्त होकर, मायावादियोंके इस अनित्य जगतमें ही पवित्र वृन्दावनकी भाँति श्रीकृष्णका लीलानिकेतन यह जगत बन जाता है। उस समय हम जिधर दृष्टि फेंकते हैं उधर मङ्गल, शुभ व आनन्द की ही तरंगे उठती दिखाई देती हैं, उस समय हममें और संसा-रके अन्य वस्तुओंमें किसी तरहका अन्तर नहीं रह जाता, सबमें एक ब्रह्मकी सत्ता देखनेमें आती है। ऐसी अवस्थामें पहुंचकर हमलोग सर्वत्र अपनेमें तथा अन्यमें उसी सच्चिदानन्द परमेश्वरका दर्शन पाते हैं। इस प्रकारके एकीकरणके भावसे, इस प्रकार अपनी और अन्य आत्माओंमें भेदभावके उठा देनेसे हमारा साक्षात् संसर्ग उस सच्चिदानन्द परमात्मासे हो जाता है। इसीको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, इस अवस्थापर पहुं-चकर हम भगवानका क्रीडापात्र बनकर, उसकी लीलाका आधार बनकर इस जगतीतलमें भगवानका शुद्ध ज्ञान, शक्ति व आनन्दकी अमृतधाराका अनव-रत प्रवाह करानेमें समर्थ होंगे।

७

# ब्रह्मकी पूर्णता ।

यह आदि और अन्त रहित ब्रह्म अखण्ड है, इसमें खण्ड नहीं हो सकता। इस अवनीतलकी समस्त वस्तुयें भी इसी ब्रह्मकी योजनासे पूर्ण हैं,अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भी इसी ब्रह्मके द्वारा प्रकाशित है। इस विश्वके समस्त तथा प्रत्येक पदार्थोंमें व्याप्त रहनेपर भी इसकी पूर्णतामें किसी प्रकारका अन्तर नहीं आने पाता, क्योंकि वह सदा और सर्वदा परिपूर्ण है, पूर्णता ही उसका प्राकृतिक गुण और स्वभाव है।

*ओं पूर्णमिदः पूर्णमदस पूर्णात् पूर्णमदुच्यते*

*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यते*

यह परमेश्वर पूर्ण है बल्कि पूर्णसे भी पूर्ण है। इसलिये जिस वस्तुमें इस पूर्णका पूर्णरूपसे समावेश होगा वह सदा पूर्ण रहेगा। इस भावको अन्तर्गत करके केवल चैतन्य पदार्थोंमें ही नारायण, शिव तथा शक्तिका ज्ञान प्राप्त करना होगा, यह बात नहीं है,

बल्कि इस संसारकी सभी जड़ वस्तुओंमें भी श्रीभगवानकी उपस्थितिकी भावना करनी होगी। पर हमारी जड़ चक्षु अवनीतलको अंगुल अंगुल खोज डालनेपर भी ब्रह्मका दर्शन नहीं कर पाती, ब्रह्मका साक्षात् नहीं कर पाती। अन्धोंकी भांति केवल भगवानकी रट लगानेसे तो कोटि जन्ममें भी भगवानका दर्शन नहीं होसकता। जिस दिन स्वर्गकी पवित्र तेजमय किरणसे हमारी जड़ चक्षु प्रकाश प्राप्तकर मायाके अन्धकारसे निकल भागेगी, जिस दिन ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे हमारे मनकी शंकायें और भ्रम दूर होजायँगे, उसी दिन हम धन्य तथा कृतकृत्य हो जायँगे। उस दिन संसारको मोहित करनेवाला सत् चित्, आनन्दमय भगवानका रूप देखकर, उसका दर्शन करके हम धन्य होंगे और आनन्द श्रोतमें निमग्न होकर भक्तिसे गद्गद होकर गावेंगे:—

*देखोरी एक वाला योगी द्वारे मेरे आयोरी।*

जबतक इस दिव्य चक्षुका उद्घाटन नहीं होता, अर्थात् जब तक यह दिव्य नेत्र नहीं खुलते तब तक साधन निष्फल और निष्प्रयोजन है, केवल मायाजाल है और जिस दिन यह ज्ञानचक्षु खुल जायँगे उस दिन प्रतीत

होगा कि इस संसारमें कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं है,संसारकी सभी वस्तुओंमें सच्चिदानन्द परमेश्वरका निवास है। सबोंके अन्तर्गत, प्राण, चेतना, मन तथा विज्ञान अधिष्ठित हैं, सब वस्तुके बीचमें लीलामय श्रीहरि निवास करके अपने अनन्त गुणोंका अपार आनन्द उपभोग करते हैं। संसारकी सभी व्यक्त, अव्यक्त अथवा प्रकाशोन्मुख वस्तुमें, जिसके बीचमें परात्पर पुरुष पूर्णरूपसे अव्यक्त रूपेण विद्यमान हैं. अथवा जिसके प्रकाशमें चैतन्यका कोई भी रूप देखनेमें नहीं आता, दिव्य चक्षु प्राप्त होजाने पर उनके बीचमें भी श्रीआनन्दस्वरूप भगवानकी दिव्य लीला देखनेको मिलेगी। पत्र, पुष्प, पत्थर, मिट्टी, पेड़, पौधा—इन सभी वस्तुओंकी रचनामें विशेष विशेष प्रकारका आनन्द है। उस आनन्दका आभास उसकी रचना चातुरीसे प्रगट होता है। प्रत्येक वस्तुके अन्तर्गत श्रीहरि चित् रूपसे विराजमान होकर भिन्न भिन्न रसोंका उपभोगकर आनन्द लेते हैं। पर एक ही ब्रह्मका अनन्त रूपसे, अनेक वस्तुओंमें निवा-स देखकर कभी भी इस बातकी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म खण्ड है, वह विभक्त होकर आंशिक

रूपसे इन नानाविध वस्तुओंमें विराजमान है। भगवान द्विधा या विभक्त नहीं हो सकता। काल, स्थान अथवा समयका उस पर किसी तरहका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अभेद व अखण्ड होकरही वह संसारकी सभी वस्तुओंमें समभावसे विराजमान होकर लीला करता है।

जिस तरह सूतका एक गोला नाना रङ्गोंमें रङ्ग दिया जाय और प्रत्येक वर्णकी सीमा निर्धारित कर दी जाय अर्थात् प्रत्येक रङ्गके कुछ कुछ गज रंग दिये जायं तोभी सूतकी सीमा उससे निर्धारित नहीं हो सकती, उसी तरह ब्रह्मकी उपस्थिति या उसके होनेका ज्ञान विविध वस्तुओंमें देख कर भी ब्रह्मके भेदका ज्ञान प्राप्त करना सहज नहीं। वह सर्वत्र सब वस्तुओंमें विराजमान है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि स्थूल पदार्थोंमें जाकर वह जड़ हो जाता है। किसी भी अवस्थामें, किसी भी रूपमें वह क्यों न हो वह अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता। वह सदा और सब स्थानोंमें अपने उसी चिन्मय रूपसे विराजमान है। वह सच्चिदानन्दमय है—विज्ञान, मन, प्राण, आदि आधार सभी उसकी रचनाके फल

हैं। सम्पूर्ण धरातल, तथा प्रकृतिके अन्तर्गत प्रत्येक पदार्थकी रचना उसकी क्रीडाके लिये की गई है। चित्रकार अपनी रुचिके अनुसार चित्रके सौन्दर्यको बढ़ानेके लिये तथा अपनी इच्छाके अनुकूल भाव लानेके लिये जिस प्रकार एक ही चित्रमें नाना विधिकी वस्तुओंको आवश्यकतानुसार दूर तथा निकट सन्निविष्ट करता है, उनपर अनुरूप रङ्ग चढ़ाता है, सजीव तथा मुर्दा बनाता है उसी प्रकार भगवान भी अपनी इच्छाके अनुकूल संसारकी सभी वस्तुओंकी रचना करता है। ये सभी वस्तुयें उसीकी रचना-चातुर्यके फल हैं।

केवल इतना ही ज्ञान प्राप्त कर लेना यथेष्ट नहीं होगा कि संसारकी सभी चेतन तथा अचेतन वस्तुओंमें श्रीहरि अविच्छिन्न रूपसे विराजमान हैं। इस बातको सदा स्मरण रखना होगा कि इस संसारके घटना समूहका नियन्ता या सञ्चालक वही है, मनुष्यके चित्तमें अविरल प्रवाह धारासे चिन्ताकी जो लहर उठा करती है वह भी उसका द्योतक है, मन तथा चित्तकी अस्थिरता, प्राणकी अनेक तरहकी वासनायें, तथा संसारका अन्य प्रकारका जो कार्य समुदाय है,

वह भी वही भगवान है, उससे परे कोई बात नहीं है, भाव, भाषा, प्रेम, घृणा, पाप, पुण्य, ज्ञात तथा अज्ञात सब कुछ यही है।

जब साधकके हृदयमें "सर्वं ह्येदम् ब्रह्म" का भाव जम जागया तब उसे क्या करना चाहिये। सबसे पहले उसे इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये कि जिस किसी उपायसे हो उसे अपना सर्वस्व श्री भगवानके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये। इसके बाद अपना सम्पूर्ण धर्मकर्म सब उसके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये। कर्म भी उसीका है, फल भी उसीका है। साधक तो केवल आधार मात्र है। आधार कर्म फलका अधिकारी नहीं हो सकता। कार्यकर्त्ता जिस तरह चाहे यन्त्रका प्रयोग कर सकता है, जो फल चाहे उसके द्वारा निकाल सकता है पर आधारभूत यन्त्र उस फलकी स्पृहा नहीं कर सकता। जो काम करनेवाला है वही उसका फल भी भोगनेवाला है। केवल आधार बन जानेसे ही तुम्हें कर्त्ता होनेका अभिमान होना व्यर्थ है, अनधिकार चर्चा है। कर्मफलको भगवानके चरणोंमें अर्पण कर तुम्हें उससे सर्वथा उदासीन हो जाना पड़ेगा,

अर्थात् तुम्हारी साधनाका यह उद्देश्य है कि आत्म समर्पणकी दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर तुम्हें अमुक अमुक कामसे मुंह मोड़ लेना होगा, इस प्रकारके भाव भी हृदयमें नहीं लाना होगा। यदि इस तरहके भी भाव हृदयमें आते हैं तो निश्चय समझ लो कि तुम्हारे मनसे कर्त्ता होनेका जो अभिमान है वह दूर नहीं हुआ और ऐसी अवस्थामें तुम पूर्ण रूपसे अपनेको भगवानके चरणोंमें समर्पित नहीं कर सकते,। कारण, इस भावका आना, कि अपना सर्वस्व भगवानके चरणोंमें समर्पित करके वैराग्य धारण करना होगा—यह भी तो एक प्रकारकी आकांक्षा है और साधनाका प्रथम उद्देश्य आकाँक्षाको मारना है। और साथ ही वैराग्य वृत्ति आनेमें ही तुम्हारा क्या प्रयास है। वह भी तो भगवानकी इच्छा है। जब तुमने उसके चरणोंमें अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया तो फिर वह तुम्हें किस रूपमें रखता है,वह उसीका द्रष्टव्य विषय है,उसीका प्रयास है, तुमसे इससे कोई मतलब नहीं। उत्सर्गके बाद तुम्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं रह जाती। अपनी इच्छा, अभिप्राय, धारणा, जैसे,यदि इस प्रकार काम

किया जाय तो यह फल होगा, यह इस समय आव-श्मक या अनावश्यक है, अमुक काम करनेसे अमुक फल होगा. इत्यादि प्रकारकी चिन्ताओंसे भी तुम्हें कोई प्रयोजन नहीं। तुम्हारा कर्तव्य, अकर्तव्य, भले तथा बुरेका विचार सब भगवानके ऊपर निर्भर है। जिस बातके लिये वह प्रेरणा करेंगे वह अनावश्यक होते हुए भी तुम्हें आवश्यक ही समझना होगा, अनुचित होनेपर भी तुम्हें स्वीकार करना होगा कि जो कुछ उन्होंने किया है वह अवश्य करणीय है, इस प्रकारका कारण मनमें रखकर तुम्हें काम करना होगा चाहे उसका कुछ भी फल क्यों न हो उससे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं। तुम्हारी इच्छा और अभिलाषाकी परवा न कर ईश्वर अपनी इच्छा और रुचिके आनुसार जो कुछ कराता है, उसीको तुम्हें स्वीकार करना होगा। अपनी बुद्धिपर आशा और भरोसा मत करो, अपने मन और चित्त-की वासनाओंको तिलाञ्जलि दे दो, अर्जुनकी भांति भूतकालके सभी संस्कारोंको पैरके तले कुचल डालो और भगवान श्रीकृष्ण जो कुछ आदेश दें, चुपचाप उसीका पालन करो। निश्चय जानो यदि वह नहीं

चाहता, तो संसारमें एक तिनका भी नहीं हिल सकता। यों तो हमारी इच्छाओं और अभिलाषाओं-की पूर्ति हो या न हो, पर जिस दिन तुम अपना सर्वस्व उत्सर्ग करके उसके चरणोंमें लीन हो जावोगे उस दिनसे देखोगे कि तुम्हारे द्वारा केवल उचित कामोंका ही सम्पादन हो रहा है। जबतक अहंकार अपना आसन जमाये रहेगा तबतक तुम्हें इस जीवन-की कितनीही बातें अप्रिय मालूम होंगी पर जिस दिन तुम्हारे हृदयमें यह भाव आ जायगा कि फलाफलकी चिन्ता हमें क्यों, हमने तो दोनोंका परित्यागकर दिया है, हमारे जीवनको आधार बनाकर वह जो खेल खेलना चाहता है वही उसकी आन्तरिक इच्छा है, जिस समय बिना किसी विघ्न-बाधाके इस भावका श्रोत तुम्हारे हृदयमें बहने लगे, उस दिन समझ लो कि तुम्हारी साधना आरम्भ हो गई। इस बातको जाननेका तुम्हें प्रयास नहीं करना चाहिये कि कौन काम आवश्यक है और कौन काम अनावश्यक है। जो शक्ति इस अखिल विश्वको चलाती है वह शक्ति तुमसे अधिक बुद्धिमती और चतुर है। तुम्हारे जीवनको सञ्चालन करनेके

लिये तुम्हारी राय लेकरही वह कामकरे यह आवश्य-क नहीं। स्वयं भगवान तुम्हें सञ्चालित करते हैं और तुम्हारे कामोंकी देख रेख करते हैं। तुम तो मुक्त हो, शुद्ध हो ,सदा आनन्दमय हो।

प्रायः करके लोग इस बातपर विवाद खड़ा करते हैं कि कर्तव्य कर्म क्या है। पर यदि आत्मसमर्पणका भाव साधक ठीक ठीक समझ जाता है और उस-को ग्रहण करनेमें समर्थ होता है तो फिर उसके मार्गमें यह सब प्रश्न नहीं उठ सकते, पर साधना ग्रहण करनेके पूर्व साधकको अनेक प्रश्नोंपर विचार कर लेना होगा। हम यहां पर थोड़ेमें कर्तव्यकर्म-की मीमांसा कर देना चाहते हैं। न्यायसंगत, नीतिसंगत, जो काम हो, जिसे विवेक स्वीकार करे उसी कामको कर्तव्य कहते हैं। जिस कामके करनेसे समाज, जाति तथा देशका हित और कल्याण हो, इसीको कर्तव्य कहते हैं। इस प्रकारकी धारणा मनमें रखकर जो काम करनेके लिये आगे बढ़ता है, जो इस आदर्शको सामने रखकर चलता है, उसका जीवन महत्वपूर्ण हो जाता है, संसारमें उसका धवल यश छा जाता है, पर कहीं कहीं व्यक्तिगत

जीवनकी उन्नतिकी कामनासे अथवा जाति तथा किसी धर्म विशेषके चक्करमें पड़कर मनुष्य इस प्रकार फंस जाता है कि जीवनके अनेक अशुद्ध संस्कार अहंकारादि तथा कामना और वासनाके वीजादि हृदयके अन्तर्गत गुप्तरूपसे इस प्रकार आडम्बर बांधते है कि संसारकी आखोंमें तो उस पुरुषकी प्रतिष्ठाका वीजारोपण अवश्य हो जाता है पर योगका उद्देश्य अथवा पूर्णजीवन लाभ करनेकी तपस्या सिद्ध नहीं होती। बल्कि कामनाओंकी प्रबल आकांक्षा एक प्रकारके फलको परावर्तित करके दूसरे तरहके फलकी आकांक्षा जागृत कर देती है और मनुष्य इन्हीं फलोंकी प्राप्तिके लिये प्रयास करने लग जाता है और उसीमें वेतरह व्यस्त होकर उन्मत्त हो उठता है। यदि उसे सफलता न मिली, यदि इस काममें वह कृतकार्य न हुआ तो उसकी आशा भङ्ग हो जाती है और उसे इसके लिये आन्तरिक वेदना होती है और उसे इतनी उदासीनता और अकर्मण्यता घेर लेती है कि वह अकर्मण्य हो जाता है। जिस बातको संसार सच समझता है, जो कार्य करणीय प्रतीत होता है उसे सत्य और करणीय

जानकर भी हम चेष्टा न कर सकें यह बात नहीं है। इस प्रकारके लोगोंकी चेष्टा और उत्तेजना अतीव उत्कट चेष्टा और उत्तेजना है, पर ऐसे लोगोंका क्रोध भी बड़ा ही भयानक होता है और अहंकार भी इतना दृढ़ होता है कि उसे दूर करना कठिन है। ऐसे लोगोंके सामने यदि स्वयं भगवान ही मूर्तिमान होकर उपस्थित हो जांय तो ये लोग उसकी भी परवा नहीं करेंगे और न उसकी ओर आंख उठाकर देखेंगे ही। इस प्रकारके कर्मण्य लोगोंका कर्मपथ यदि असफलताकी भारसे वाधायुक्त न भी हो जाय, तथा इन लोगोंका कर्तृत्वाभिमान इन लोगोंको राजसिक कर्ममें प्रवृत्त रखकर इन लोगोंसे अकर्मण्य कर्म करा कर व्यर्थ द्वन्द्व तथा क्लेशमें रखे, तो ये लोग उसीमें आजन्म व्यस्त रहते हैं और अन्तमें भीषण दुर्विपाकमें जा गिरते हैं। ऐसे लोग किसी भी अवस्थामें त्रिगुणातीत होकर श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्दके चरणोंमें स्थान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि अनन्त काल तक ये लोग गुणादिक जो कर्तव्य हैं उनमें फंसे ही रहतेहैं और उसीमें व्यस्त होकर अपना काल यापन करते हैं।

८

# साधनाके उपाय (१)

युद्धक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें परब्रह्म श्रीकृष्णके सम्मुख खड़े हुए अर्जुन इसी प्रकारके व्यक्तिगत धर्म तथा सामाजिक विधानके वशवर्ती होकर कातरभावसे संग्रामसे विमुख हो गये थे। उस समय पार्थने युद्ध करनेके विरुद्ध जो जो युक्तियां पेश की थीं उनके विरोधमें भगवान श्रीकृष्णने दो अकाट्य युक्तियोंको उनके सामने पेश किया था। उनमेंसे एक युक्ति तो मुमुक्षुके लिये थी और दूसरी युक्ति मुक्त पुरुषके लिये थी। पहली युक्ति शास्त्रकी थी और दूसरी युक्ति उत्सर्गकी थी। उस उत्सर्ग मन्त्रका अन्त केवल भगवानके चरणोंमें कर्म फलका समर्पण कर देनेसे ही नहीं हो सकता, स्वयं कर्मको ही भगवानके चरणोंमें अर्पण करनेसे होता है।

वृद्धावस्थामें प्रायः सभी नरनारी मूर्तिकी उपासनामें निरत होकर श्रीभगवानके करुणा और दयाके

भिखारी बनते हैं। उन लोगोंके निमित्त शास्त्र-कारोंने जो आदेश बतलाया है वही उन लोगोंका मूल आदर्श है, उसीके अनुसार वे लोग कार्य करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। हम लोगोंके व्यक्तिगत जीवनको आशा, आकांक्षा, विवेक बुद्धि, युक्ति, तर्क, साध्य, आह्लाद, वासना, कामना, इन सब अहंकार-की द्योतिका वस्तुओंके बाहर एक दैवी नियम है, स्वर्गीय विधान है, जिसका अनुगामी होकर अर्थात् उसी स्वर्गीय नियमके अनुसार जीवनकी नौकाका सञ्चालन करनेसे हम केवल संयमी और स्थिर ही नहीं हो सकते बल्कि मुक्तिका मार्ग प्राप्त करनेमें भी वह हमें सहायता देकर तैयार करेगा। शास्त्रकारोंकी ये उक्तियां मनुष्य जीवनको भँवरमें पड़कर नाश होनेसे सर्वथा बचाती हैं।

प्राचीन युगमें इस शास्त्रका नाम वैदिक धर्म था। इसका आधार था मनुष्यका आध्यात्मिक जीवन। इस शास्त्रके वचनोंके अनुसार चलनेसे ही मनुष्य आत्मतत्वकी प्राप्ति कर सकता है। इस शास्त्र-विधिके अनुसार ही अपने आचरण और सदाचारको बनाकर वह अपनेको सर्वांग सुन्दर और सुगति बनाने-

को चेष्टा करेगा। समयके अनुसार यही वैदिक धर्म स्मृतिके नामसे पुकारा जाने लगा। वेदोंमें कथित चार वर्णाश्रम धर्मोंके अनुसार स्मृति वाक्य मनुष्य समाजको विभक्त करके वर्णाश्रम धर्मके अनुसार उनका नियोजन करने लगे किन्तु वैदिक धर्मके भावोंकी भाँति स्मृतिके वाक्योंमें सूक्ष्मता नहीं है। उनके विधान स्थूल होते हैं और उन्हीं स्थूल उपायों द्वारा ही ये मानव समाजको मुक्तिके मार्गकी ओर प्रसारित करने लगे। उसके वाद कलियुगका पदार्पण हुआ। इस युगमें प्रचलित रीति रिवाज सामाजिक आचार विचार तथा व्यवहारने ही शास्त्रका रूप धारणकर लिया है। इस युगमें शास्त्रकी मार्यादा कुछ भी नहीं रही। काल धर्मके अनुसार सामाजिक रीति रिवाज में जो कुछ प्रचलित हो गया है उसीको ऋषियोंका वाक्य समझना चाहिये, उसीको लोग वेदवाक्य मानते हैं। ऋषियोंके वचन तो इस युगमें किनारे रख दिये गये हैं। जो प्रचलित आचार विचारमें आ गये हैं उन्हींकी मर्यादा और गणना है। ठीक ही है 'जहां और नहीं रुख वहां रेंड महा रुख।'* कुछ न

रहनेसे तो यही अच्छा है। कारण कि वासना और विषयके चक्करमें पड़कर स्वेच्छाचारी होनेकी अपेक्षा इस प्रकारके लोकाचारके अधीन होकर रहना भी किसी न किसी अंशमें ठीक व उचित है। इसके अधीन हो जानेसे भी मनुष्यकी अनेक दुर्जय वासनायें प्रशमित हो जाती हैं। यद्यपि इस प्रकारके विधानोंकी कोई भी सत्ता नहीं है, यदि ये मुक्तिका मार्ग साफ करनेमें किसी भी तरहकी सहायता नहीं दे सकतीं और केवल एकही तरहके बन्धनमात्रका काम करतीं हैं, तथापि अनपढ मूर्खों के हितके लिये इस प्रकारके किसी प्रचलित विधानकी नितान्त आवश्यकता है जिनके हृदयमें धर्मका अहंकार विद्यमान है, संस्कारका अहंकार विद्यमान है, अपनी प्रखर बुद्धि तथा विद्या विलासका अभिमान विद्यमान है। ऐसे लोगोंके हाथोंमें पड़कर शास्त्रकी विधियोंका भी दुर्व्यवहार होता है। यदि शास्त्रका ठीक तरहसे उपयोग किया जाय, यदि उनकी बताई हुई रीतियोंके अनुसार संसार यात्रामें प्रवृत्त हुआ जाय तो मोक्ष पथमें समुचित्त सहायता मिल जाती है। शास्त्र ही तो शब्द ब्रह्म हैं।

पर जिन लोगोंने अपनेको भगवानके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जो लोग आत्माको नित्य मुक्त मानकर उसकी स्थिति निश्चित करनेमें समर्थ हो सके हैं, जिन लोगोंने तन, मन और प्राणसे कर्म तथा कर्म फल दोनोंका त्यागकर दिया है और दोनोंको भगवानके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, और मुक्त साधक बन गये हैं, उन्हें फिर उद्योग पर्व लेकर नया प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है। शास्त्रीय विधा-नोंके अनुसार अपनेको बाँधकर रखनेकी उन्हें आवश्य-कता नहीं है। सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय विधानोंके भी आगे उनकी स्थिति रहती है और वे लोग प्रत्येक कर्म तथा प्रत्येक अवस्थामें आनन्दका उपभोग करते हैं। जिन लोगोंने भगवानके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया फिर उनके लिये बन्धन किस बातका है? शब्द ब्रह्म सबको लांघ जाता है।

श्रीभगवानके चरणोंमें कर्मको समर्पित करनेका सबसे उत्तम विधान क्या है? इसके लिये सबसे उत्तम विधान प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करना है। मनमें इस तरहकी धारणा दृढ़ करनी होगी कि हम लोगोंके सम्पूर्ण कार्योंको ईश्वरके आदेशानुसार प्रकृति सम्पन्न

करती है। हम लोगोंके स्वभावके अन्तर्गत ही भगवानने कर्मकी योजना की है। जिस समय ये भाव पूर्ण रूपसे हृदयंगम हो जायंगे उसी समय साधकको भासित होने लगेगा कि सभी कामोंको नियन्त्रण करनेवाला सूत्रधार वही भगवान है। हम लोग कुछ नहीं हैं। किसी भी कामकी जिम्मेदारी हमारे ऊपर नहीं है और तज्जनित बन्धन भी हमें व्याप नहीं सकते। जो कुछ भी भगवान करते हैं उसका उन्हें किसीके पास हिसाब नहीं देना पड़ता। वे ही सर्वोत्कृष्ट कर्ता हैं, वे मुक्त सत् चित् आनन्दमय हैं।

जो साधक शास्त्रीय विधिके अनुसार कार्य करता है उसका कार्य स्वभावगत्या नियन्त्रित, प्रकृति द्वारा संचालित और सुश्रृंखलित होता है। यही प्रकृतिका धर्म है। हमारे कर्म भी स्वभावके अनुसार नियन्त्रित हैं और यह स्वभाव यन्त्रस्वरूप होकर भगवानके हाथमें रहता है और वे ही इसका नियन्त्रण तथा परिचालन करते हैं। इस प्रकारके अंशतः संस्कारसे परिवेष्ठित और अभिभूत हम लोगोंका इस प्रकारके उत्कृष्ट ज्ञानका सहारा लेकर निरन्तर अवस्थान ( उसीमें लगा रहना ) सहज और साध्य है पर निम्न लिखित अनुसार

चलनेसे हम लोग पराज्ञान और सहजमें प्राप्तकर सकते हैं। सबसे पहले नीचे लिखे मन्त्रका स्मरण-कर अवस्थान करना चाहिये:—

*त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन,*
*यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।*

अर्थात् हे आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र तुम सदा और सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान हो, हम सब काम तुम्हारी ही प्रेरणासे करते हैं, जैसी आपकी मर्ज़ी होती है वैसा ही काम हम करते हैं। सभी अवस्थामें मनमें इस बातकी धारणा करनी होगी कि हम वही करते हैं जो कुछ हृदयमें आसन जमाये वह भगवान हमसे कराता है। शयन, भोजन, भ्रमण, कथा, वार्ता आदि क्रियायें करते समय हमें इस मन्त्रका निरन्तर जप करना होगा। जिस समय ये भाव हमलोगोंकी धमनियोंमे रक्तकी गतिके साथ निरन्तर दौड़ने लगेंगे उस समय हमलोग इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भगवानका प्रत्यक्ष आभास देखने लगेंगे और उस समय हमें सर्वोत्कृष्ट आनन्दकी उपलब्धि होगी। इस अमर (सर्वदा जीवित रहनेवाला) भावका

कमल हमलोगोंके हृदयोंमें जिस दिन खिलने लग जायगा उसी दिन साधनाका यह द्वितीय चरण अत्यन्त सरल और सहज साध्य हो जायगा। गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है:—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*
*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।*

अर्थात् हे अर्जुन भगवान प्राणी मात्रके हृदयमें निवास करते हैं और गुणत्रय ( सत्व, तज, तम, ) की सहायतासे सबको माया जालमें लपेटकर, प्राणीमात्रको यन्त्रपर चढ़ाकर घुमाया करते हैं। जब इस अमूल्य ज्ञानकी प्राप्ति तुम्हें होगी उस समय तुम्हें विदित होगा कि तुम्हारे हृदयमें गुणत्रयने किस प्रकारका कर्मोत्पादन किया है तथा यन्त्रारूढ तुम्हारा जीवन यन्त्रकी सहायतासे किस तरहपर परिचालित हो रहा है। उस समय तुम "तथा करोमि" न कहकर कहोगे कि "गुणो-वर्तन्त एव" अर्थात् हम कुछ नहीं कर सकते, जो कुछ हमारे द्वारा सम्पादित होता है वह सब भगवान-की प्रेरणाका फल है और वह प्रेरणा गुणत्रयी द्वारा

होती है। इस अवस्थामें केवल एक इसी आपत्तिकी सम्भावना रहती है कि यदि हम गुणादिकसे उत्पन्न कर्मादिककी प्राप्ति नहीं कर पाते, तब हमारे हृदयमें अनेक तरहके अशुद्ध भाव उत्पन्न होकर हमें दारुण दुःख देने लगते हैं और जिस पाप और पुण्यकी कल्पना हमलोग पूर्वसे ही करके बैठे रहते हैं वह प्रत्यक्ष होकर हमलोगोंको सताने और तङ्ग करने लगते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त होकर जिस समय हम पापके कीचड़में फंस जाते हैं उस समय हम घोर रूपसे हाहाकार मचाने लगते हैं और यदि उस अवस्था-में हमारे पूर्व जन्मके पुण्यके प्रभावसे कोई अच्छा फल प्राप्त हो गया तो हम हर्षोत्फुल्ल होकर आनन्द मनाने लगते है। किन्तु जिस साधकने आत्म सम-र्पणका मन्त्र ग्रहण किया है उसे स्मरण रखना होगा कि जिस घड़ीमें उसने अपनेको भगवानके हाथोंमें समर्पित कर दिया उसी घड़ीसे लेकर उसका सारा काम भगवानका है उसके जीवनको अपने हाथोंमें लेकर वह मनमाना खेल खेल सकता है, अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार पाप या पुण्य करवा सकता है, हमें केवल इस बातके लिये सचेत होना

पड़ेगा कि कहीं हम भी उसीमें न फंस जांय, अर्थात् खेलकी रोचकतासे आकृष्ट होकर अपनी प्रवृत्तिको स्वतन्त्र रूपसे न चलाने लगें। हमें तो केवल उसकी प्रेरणाके अनुसार चलना है। यन्त्रपर चढ़ाकर वह हमें जो नाच नचावेगा हम वही नाच नाचेंगे। न तो इसमें हमें पापका ख्याल है न पुण्यकी परवा। बस, मनमें केवल एक बात रखनी होगी और वह यह कि करुणामय आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने स्पष्ट शब्दोंमें हमें अभयदान दिया है। गीतामें भगवानने अपने मुखसे कहा है कि हम सच्चे हृदयसे दृढ़ होकर कहते हैं कि "न मे भक्त विनश्यति" अर्थात् मेरे भक्तका नाश नहीं हो सकता। हे नवीन युगके साधक! आओ! हिन्दुओंके आदर्श देव श्रीकृष्णचन्द्रने धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें भारतके प्रकृष्टतम विकासके हेतु जिस महामन्त्रकी घोषणा किया है, उसी महामन्त्रमें दीक्षित होकर हम नये युगकी स्थापना करें।

६

# साधनाके उपाय (२)

इस द्वितीय अवस्थाकी पूर्णतया उपलब्धि कर लेनेपर तीसरी अवस्थाकी प्राप्ति होगी पर यह तीसरी अवस्था भगवानकी दया बिना नहीं उपलब्ध हो सकती। केवल भगवानमें लीन हो जानेसे ही काम नहीं चल सकता। हमें उस अवस्थामें पहुंचना होगा जहाँ त्रिगुणात्मक विकारोंका संसर्ग नहीं हो सके, वे हमपर अपना प्रभाव न डाल सकें। प्रकृति लीलामें निमग्न होकर गुणके साथ संयोग करे तोभी उसे गुणत्रयसे मुक्त हो रहना होगा।

सत्व, रज और तम ये ही गुणत्रय हैं। सत्वगुण शुभ्र और स्वच्छ प्रकाशमें विलीन हो जायगा और प्रकृति शुद्ध मुक्त अनन्त आत्मचेतनाका अनुभव करेगी रजोगुण शुद्धतपका रूप धारण कर लेगा और प्रकृति भी अनरवत धारा प्रवाहसे शान्तिमय स्वर्गीय ज्योतिके आधार पर स्वतन्त्ररूपसे बहेगी। तमोगुण शम व शान्तिका रूप धारण कर लेगा और प्रकृति

किसी शान्तिमय आधारको लेकर अपना दृढ तथा अटल आसन जमा लेगी।

इस अवस्थाको प्राप्त होनेपर जीवको आपसे भगवानके ज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह कर्मरूपसे प्रकाशित होता है। फिर उसमें और भगवानकी इच्छामें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं रह जाता। जब तक हृदय (मन) अशुद्ध एवं अपरिपक्व रहता है और भगवानकी इच्छा गुणयुक्त होकर उसे प्रकाशित करनेकी है उस समय गुणत्रय परिपूर्ण प्रकाशके उपयुक्त नहीं दिखाई देते और उनमें विकार दिखाई देता है। पर यदि हृदय शुद्ध रहता है तो गुणत्रयी भी शुद्ध प्रकाश द्वारा तप एवं शान्तरूप धारण करके मनुष्यको देवासन पर बिठाती हैं। उस समय उसका प्रकाश अन्तहीन हो जाता है, उसकी शक्ति प्रबल हो उठती है, और उसमें असाधारण धैर्य्य उत्पन्न हो जाता है।

जिस समय हम उस अवस्थाको पहुंच जायंगे उस समय हमें प्रतीत होगा कि कोई एक अद्भुत शक्ति हमारी आधारभूत होकर हमारे लिये चिन्ता कर रही है, अनुभव कर रही है, और कार्य कर रही

है। और इस बातका सहजमें ही पता लग जायगा कि हमारी अधारभूत होकर भी यह शक्ति हमारी नहीं है। हमारी न होकर भी यह देव शक्ति हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियों—जैसे देह तथा मनका सञ्चालन कर रही है। यह अनन्त शक्ति हमारी बुद्धिके द्वारा जिस बातकी चिन्तना करेगी, हृदयद्वारा जिस बातका अनुभव करेगी, शरीर द्वारा जो कुछ कार्य निस्पादन करेगी, उस सबका हम केवल उपभोग मात्र कर सकते हैं, इसके हम अधिकारी नहीं हो सकते और न उसका ही हमपर अधिकार हो सकता है। पल-मात्रमें हम लोगोंके सारे काम दूर हो जायँगे। जैसे कमलके पत्तेपर पड़ा जलका बूंद जब गिर जाता है तो उस पत्तेपर जलकी कोई निशानी नहीं रह जाती उसी प्रकार उस दिव्यशक्तिके आधारभूत होनेसे हममें कर्मका कोई संस्कार नहीं रह जायगा। जिस तरह नील क्षीरमें अनेक तरहकी तरंगे उठा और विलीन हुआ करती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवनमें कर्मकी अनेक प्रकारकी तरंगे उठेंगीं और विलीन हो जायँगी पर उनका किसी प्रकारका असर हमारे ऊपर नहीं पड़ेगा, उस अवस्थाद्वर प्राप्त होने-

पर इस शरीरपर हमारा किसी प्रकारका अधिकार नहीं रह जायगा। हमारा शरीर मन, बुद्धि जो कुछ है सभी भगवानका है। हम तो केवल एक केन्द्र हैं जहां पर अपनी शक्तियोंका संग्रह कर वह सच्चिदानन्द अपनी अनन्त लीलाका अभिनय किया करता है।

सर्वतो रूपसे भगवानका ही हो जानेपर इस अवस्थाकी उपलब्धि होती है। गीतामें भगवानने कहा है:—

*"यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते"*

अर्थात् 'जिसके हृदयमें अहंकारका भाव नहीं भरा है जो सदा और सर्वदाके लिये अहंकार रहित हो गया है जिसकी बुद्धि किसी प्रकारके भावमें नहीं जा फंसती, यही सर्व कर्म समर्पित करने वालेके लक्षण हैं। इसी प्रकारके मनुष्यके लिये भगवान श्रीकृष्णने बारबार कहा है—

*मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यत्म चेतसा*

*निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥*

मनको अध्यात्मरूप देकर 'अर्थात् वैराग्य लेकर" सम्पूर्ण कर्मोंको हमें समर्पित करके, किसी प्रकारकी आशा और ममता न रखकर निःशंक होकर युद्ध करो। अर्थात् हम अन्तर्यामी भगवानके आधीन होकर कर्म कर रहे हैं इस तरहका ज्ञान और विश्वास अध्यात्म योगके द्वारा प्राप्त करके ममताको दूर करके, युद्ध करो। ऐसी अवस्थामें आत्माके लिये व्याधि स्वरूप जो शक्ति है उसका नाश हो जायगा।

इस प्रकारके वृहत एवं परिपूर्ण मुक्ति प्राप्त करनेके लिये हमें सारी अभिलाषाओं और झंझटोंसे मुक्त होकर अहंकारको अपने पाससे हटाना होगा। किसी वस्तु विशेषके ऊपर लोभ, ऊंच नीच पाप पुण्य अच्छा बुरा आदि द्वन्द्वोंका संस्कार तथा 'अहम्' रूपी अहंकारके भावको एक बारगी छोड़ना होगा। इन तीन बातोंका परित्याग ही योग साधनाका सर्वश्रेष्ठ और अमोघ अस्त्र है।

जिस समय हमलोग हर प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त हो जायंगे, उस समय हम लोग सहजमें ही स्पृहारहित हो सकते हैं। जब तक हम द्वन्द्व रहित नहीं हो सकते तब तक किसी भी उपायसे निस्पृह

नहीं हो सकते। समय समयपर प्रत्येक द्वन्द्व ( पाप पुण्यादि ) उपस्थित होकर मनको अपने संस्कारोंसे अभिभूत तथा चञ्चल कर देते हैं। प्रकृत्या हमारा मन राग और द्वेषसे युक्त है, किसीको हम प्रेम करते हैं, किसीसे घृणा करते हैं, किसी वस्तुको हम सदा हृदयसे लगाये रखना चाहते हैं और किसीको हम सदा अपनेसे दूर रखना चाहते हैं, कोई वस्तु हमें अतिशय प्रिय है और किसीसे हम आन्तरिक घृणा करते हैं, चित्तको इस चञ्चल तथा द्वन्द्वमय प्रवृत्तिको हम तीन भागमें बांट सकते हैं।

शरीर और मनके संयोगसे अनेक प्रकारके भीषण द्वन्द्व चलाने पड़ते हैं, यथा भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी सुख दुःख ये सब अधम प्रकारके द्वन्द्व हैं। मध्यम श्रेणीका द्वन्द्व प्राणोंकी आकांक्षा यह मनके अनुभूतिसे उत्पन्न होता है, जैसे जय पराजय, कृतकार्यता या असफलता, सौभाग्य या दुर्भाग्य सुख या दुःख शान्ति अथवा अशान्ति, प्रेम वा घृणा इत्यादि और उत्तम प्रकारका द्वन्द्व बुद्धिकी सहायतासे मनमें उदय होता है, जैसे पाप पुण्य, सच झूठ, मुक्ति अमुक्ति। इन सब द्वन्द्वोंका नाश हम केवल एकमात्र ज्ञानकी सहायतासे कर सकते हैं।

इसलिये हमें इस तरहके ज्ञानकी आवश्यकता है जो हमें बतला दे कि इस विश्वमें भगवानके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। सकल पदार्थ और सम्पूर्ण वस्तुमें वे विद्यमान हैं। इस तरहके ज्ञानकी उपलब्धिसे ही हम समझ सकेंगे कि प्रत्येक वस्तुका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? और जो इस विश्वमें भिन्न भिन्न वस्तुयें भिन्न भिन्न रूप धारण करके प्रगट होती दृष्टिगोचर होती हैं वह साधनाके लिये ही लीलामय भगवानकी लीलाका फल हैं। किन्तु उनमें परस्पर किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है।

भक्तिके द्वारा भी हम लोग इस द्वन्द्वसे मुक्त हो सकते हैं। संसारकी सभी वस्तुयें, सभी घटनायें और सभी अवस्थामें हम उसी प्रेममय भगवानकी इच्छाओंके वशवर्ती हैं। इसलिये हमें तो प्रत्येक अवस्थामें परमानन्दको पुकारना होगा। जो भगवानको सब प्राणियोंमें वर्तमान देख सकता है, उसकी दृष्टिमें संसारकी सभी वस्तुयें समभावसे दिखाई देती हैं। तब उसे प्रतीत होता है कि एकसे एक विचित्र होते हुए भी सब समान हैं।

कर्मके द्वारा भी हम लोग इस उपरोक्त प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त हो सकते हैं। जब हमने अपना कर्मधर्म सबही श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित कर दिया तब फिर हमारे लिये सुख दुःख और मान अपमान क्या है? हमें आधार बनाकर जो काम वह करता है उसका फल भोगनेवाला तो स्वयं भगवान हैं। उन्होंने अपनी इच्छाके अनुसार जिन वस्तुओंकी रचना की है उनमें यदि हमें पूर्णतः आनन्द नहीं मिलता तो हमें समझना चाहिये कि हमारा त्याग अपूर्ण है।

इस प्रकार ज्ञान भक्ति एवं कर्मका आत्मसमर्पण करनेके लिये दृढ़ संकल्प करनेपर तथा उपरोक्त प्रकारसे साधनाके पथपर चलनेसे अवश्य ही लाभ होगा।

१०

# साधनाके बाधक तत्व

हमारे हृदयमें अहंकार ही एक ऐसी वस्तु है जो हमें विरक्त होकर नहीं रहने देती। संसारके संपर्कसे हम अनेक प्रकारके संबन्ध बन्धनोंमें बंध जाते हैं। उन सब संकल्पोंके घात प्रतिघातसे हमारे मनमें अनेक प्रकारके भाव उदय होते हैं। इन्हींका द्वन्द्व भी छिड़ जाता है। इन्हीं द्वन्द्वोंके फेरमें पड़कर हमलोग संसारके माया जालमें फंस जाते हैं और अनेक तरहकी शोक, दुःख तथा हर्ष जनित घटनाओंके बीच दिन यापन करते हैं।

हमारे जीवनमें तथा साधनामें इसी अहंकारकी लीला प्रगट होकर उठती है। गुणादि भेदसे इसके तीन प्रकार हैं। सात्विक, राजसिक एवं तामसिक।

विषय वासनामें राजसिक वृत्तिकी प्रधानता रहती है। यह सदा और सर्वदा हमें घेरे रहती है। इसीके चक्करमें पड़कर हम सदा धर्म और कर्म

फलके चक्करमें पड़े रहते हैं। यदि हमें इस बन्धनसे मुक्त होना है तो हमें गीतामें कथित श्री कृष्णचन्द्रके "मा कर्मफलहेतुर्भूः" वचनको सदा स्मरण करते रहना होगा और अपना सारा कर्म तथा धर्म फल सब ही भगवानके चरणोंमें समर्पित कर देना होगा।

तामसिक प्रवृत्तिका लक्षण दुर्बलता है। इस प्रवृत्तिके वशीभूत होकर हम सदा आलसी, सुस्त और निष्कर्म बने रहते हैं। इसके प्रभावसे हमारी बुद्धिका नाश हो जाता है, तेज क्षीण हो जाता है और हम लोग हताश हो जाते हैं। किसी कामको करनेके लिये दिल नहीं बढ़ता। साधारणसे साधारण काम करनेमें भय लगता है, विना किसी उद्देश्यके जीवन यापन करनेमें विशेष आनन्द प्रतीत होता है। सदा स्फूर्तिहीन, विपन्न, रहते हैं मानों किसी कार्यके निष्पादन करनेको हममें योग्यता ही नहीं है। इस भीषण तथा महा भयानक रोगसे मुक्ति लाभ करनेकी, इस जडत्वसे छुटकारा पानेकी एक मात्र ओषधि गीताका अमृत बचन है कि, "मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि" अर्थात् अकर्मण्यतामें किसी प्रकारकी प्रवृत्ति न हो

और सदा "योगस्थः कुरु कर्माणि" योग युक्त होकर कर्म करते रहो। और "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" इस कर्मके द्वारा हमें हानि हो रही है या लाभ, हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे हट रहे हैं, हमारा उत्थान हो रहा है या पतन, हमें सफलता मिल रही है या हम विफल मनोरथ हो रहे हैं इत्यादि बातोंकी चिन्ता करनेके हम अधिकारी नहीं हैं। केवल "संगम् त्यक्त्वा" अर्थात् मोह और आसक्तिका त्याग करके कर्म करते जाव। भगवानकी एकमात्र यही आज्ञा है कि कर्म करो, बस, यही विश्वास मनमें अटल रखो। तुम भगवानकी प्रेरणासे ही काम कर रहे हो इससे यदि हजारों प्रकारकी असुविधायें उपस्थित हो जायँ तोभी घबराओ न। प्रसन्न मन और "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" दुःख सुःख-को एक प्रकारका समझकर अविचलित चित्तसे कर्म करते जाव। चित्तमें किसी प्रकारका विकार न उत्पन्न होने दो।

सात्विक अहंकार ही सबसे बलिष्ठ होता है। इस अहंकारके द्वारा साधक ज्ञान एवं आनन्दके बन्धनमें बँध जाता है। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके

मित्र अर्जुन जिस समय युद्धमें सम्मिलित होनेके लिये शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर रथपर चढ़ दोनों दलोंकी सेनाओंके बीचमें जाकर उपस्थित हुए तो उन्होंने दोनों तरफसे लड़नेके लिये सुसज्जित अपने ही बन्धु बान्धवोंको देखकर वे व्याकुल हो उठे और किंकर्तव्य विमूढ़ होकर गाण्डीव धनुषको त्याग दिया। उस समय विषण्ण होकर जो कुछ उन्होंने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा था उसे अयुक्त नहीं कहा जा सकता। महामति अर्जुनके कातर हृदयने राज्योपभोगके लिये बन्धु बान्धवोंका नाश करना तथा अपने हाथों उनकी हत्या करना महापाप समझा। अर्जुनने कहा था :—

*गुरूनहत्वाहि महानुभावान्,*
*श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।*
*हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,*
*भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रादिग्धान्॥*

अर्थात् श्रेष्ठ जनों, पितामह प्रपितामहादिकोंकी हत्या किये विना यदि भिक्षा मांगकर भी पेट पालनेकी व्यवस्था हो जाय तो उसे अच्छा समझना चाहिये बनिस्बत इसके कि धनके लोभसे उनको

मारकर उनके रक्तसे सना हुआ धनका आनन्द लिया जाय।

इस उपरोक्त कथनसे अर्जुनकी उदार हृदयताका पता लगता है। अर्जुनको इस बातका ज्ञान नहीं था कि लीलामय भगवान मनुष्यको ऐसे पतित अर्थात् बन्धु बान्धवोंकी हत्याके काममें भी लगा सकते हैं। इस प्रकारकी भी उनकी प्रेरणा हो सकती है। अज्ञानान्धकारमें पड़कर ही अर्जुनने भगवानसे कहा था—

*यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः*
*धार्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमकरम् भवेत्।*

यदि मुझे उदासीन देखकर और विना अस्त्रका देखकर शस्त्रधारी दुर्योधनके पक्षपाती युद्धमें मुझे मार भी डालें तोभी मैं इस युद्धसे उसे श्रेयस्कर समझता हूं। इतना कहकर, अर्जुनने शस्त्र रख दिया था। इसे ही सात्विक अहंकार कहते हैं।

पर भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनका यह सात्विक अहंकार दूर करके उन्हें दिव्य चक्षु द्वारा सुझा दिया कि मनुष्य अपनेको धर्म ज्ञानमें पूर्णतया प्रवीण समझकर सच्चे योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। मनुष्य-

का अहंकार सात्विक होने पर भी वह अहंकार ही रहेगा। इसलिये सात्विक अहंकार युक्त पुरुष जब भागवत धर्ममें दीक्षित होनेको प्रवृत्त होता है तो उस समय भी द्वन्द्व जनित चिन्तायें उसे छोड़ती नहीं। वह उन्हींके मायाजालमें पड़ा रहता है। हिताहित, पाप-पुण्य, अच्छा बुरा ये सब बातें व्यक्तिगत जीवनकी धारणायें हो सकती हैं पर सच्चिदानन्द भगवानके निकट धर्माधर्म कोई बात नहीं है। जो कुछ वह करता है वही धर्म है, वही पुण्य है, और वही परमानन्द है।

जब साधक सात्विक अहंकारसे मुक्त हो जाता है और पूर्ण योगको प्राप्त हो जाता है, उस समय उसके हृदयमें पाप-पुण्य आदिका कुछ भी ज्ञान शेष नहीं रह जाता। उस समय वह अध्यात्मरूप धारण करके अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवानमें समर्पित करके कर्मक्षेत्रमें प्रवृत्त होता है। यदि किसी कामके करनेमें किसी तरहका न्याय, अन्याय जनित क्रोध या क्षोभ हृदयमें उत्पन्न हो तो समझ लो कि सात्विक अहंकारने अभीतक पल्ला नहीं छोड़ा है।

जिन लोगोंने नूतन योग ग्रहण किया है अर्थात् जिन लोगोंने आत्मसमर्पणका केवल संकल्पभर किया है पर पूर्णतरहसे त्याग नहीं कर सकते, उनके मार्गमें गुणत्रयका कोई भी एक गुणयुक्त अहंकार बाधक होकर खड़ा है। जिस साधकमें रजोगुणकी प्रधा-

नता रहती है वह आत्मसमर्पणके मन्त्रमें दीक्षित होते ही सोचने लगता है—हम साधक हैं। हमने योग साधना आरम्भ किया है। लोग उदासीन बैठे ही हैं और हम इस मार्गमें इतना आगे बढ़ आये हैं। हम भगवानके हाथके एक शस्त्र या यन्त्र हो रहे हैं। इस तरहके अनेक प्रकारके भाव हृदयमें उठ उठकर साधकको अहंकारी बना देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपनी वासनासे उत्पन्न धर्मको भगवानका बोलकर साधक उसीको निष्पादन करनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा करता है और स्थल स्थलपर हताश होता है। पर उसके मनमें यह धारणा उठती है कि हम धर्माचरण कर रहे हैं और धर्मका मार्ग बाधा-विपत्ति तथा कंटकपूर्ण है इससे हमें परिश्रमसे कार्य करना चाहिये। इस भावसे प्रेरित होकर वह और भी तल्लीन होकर काम करने लगता है। इस प्रकार उस कामको सुसम्पन्न करनेमें भगवानकी अपेक्षा उसीका अनुराग अधिक प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जिसके हृदयमें राजसिक अहंकार अधिक है वह जब काम करने लगता है तब सोचता है—हमारे हृदयमें प्रविष्ट भग-

वान ही हमसे यह कार्य करा रहे हैं। इस काममें हमारा किसी प्रकारका हाथ नहीं है। पर वास्तवमें यह केवल उनकी समझकी बातें हैं। इस भावसे समस्त यन्त्र पूर्ण होते न होते राजसिक अहंकार साधकको उद्भ्रान्त कर देता है। योगीको सदा सर्वदा यह भाव अपने हृदयमें धारण करना होगा कि भगवान सबके हृदयमें विद्यमान हैं और अनेक तरहकी अभिलाषाओंका त्यागकर हृदयके अन्तः-प्रदेशमें जो लीलायें हो रही हैं, उसीपर लक्ष्य रखे। जबतक स्वयं भगवान ज्ञान दीपकको जलाकर अन्त-र्हृदयके सम्पूर्ण तमका नाश न करेंगे तबतक साधक-को मोहरूपी अहंकारमें फंस जानेकी पूर्ण सम्भावना है। जिस साधकमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है उसे दो प्रकारकी विपत्तिमें फंसनेकी सम्भावना रहती है। सबसे पहले साधकके हृदयमें उठता है कि—मैं दुर्बल, पापी, घृणित, अज्ञानी, अकर्मण्य हूं। जिस किसीको मैं देखता हूं, सभी मुझसे ऊंचे दिखाई देते हैं। मैं सबसे नीच हूं। भगवानको हमारी आवश्यकता नहीं। भगवान मुझे अपनी शरणमें लेकर क्या करेंगे? मानों ईश्वरकी शक्ति

परिमित है और अवस्था विशेषके ऊपर निर्भर करती है और यह उक्ति मिथ्या है कि वह गूंगेको बोलनेकी शक्ति प्रदान कर सकता है और लूलेको चलनेकी शक्ति दे सकता है। दूसरे यदि साधकको थोड़ी बहुत शान्ति मिल गई तब उसीका आनन्द उपभोग कर वह मनमें सोचने लगता है कि चलो सारा प्रपञ्च दूर हुआ, मुझे शान्ति मिल गई। इस प्रकार कहकर वह सब प्रकारके कर्मोंसे मुंह मोडकर आनन्द करने लग जाता है। साधकको सदा इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि वह भी परब्रह्मका अंश है और आदिशक्ति उसके हृदयमें अवस्थान करके उसका सञ्चालन करती है। सर्वशक्तिमान भगवान की लीला तरह तरहकी होती है। किसी एक लीलाके परवश होकर साधकको उदासीन होकर बैठ रहना सदा अनुचित है। वह जो कुछ करता है सब उसकी आनन्द-लीला है। उसे उत्पात या और कुछ समझना सर्वथा भूल है। पर जबतक किसी तरहका अहंकार विद्यमान रहता है तबतक इस तरहकी धारणाका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। कर्मबन्धनके कटे जाने पर भी हमें तो कर्म करना ही

होगा। भगवान श्रीकृष्णने इसी प्रसंगको लेकर अर्जुनसे कहा था—

*न मे पार्थोऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन*
*नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ।*

अर्थात् हे अर्जुन! इस संसारमें हमारे लिये अप्राप्त अथवा प्राप्त करने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है तथापि मैं सदा काममें लिप्त ही रहता हूं।

*लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि*

संसारके कल्याणके लिये ही कार्य करना उचित है। यदि प्रकृतिके गर्भसे इस ऐश्वर्यशाली सुन्दर विश्वकी उत्पत्ति हुई है तो भगवान नहीं चाहता कि फिर यह सृष्टि उसी प्रकृतिके गर्भमें जा कर विलुप्त हो जाय। इसलिये जो उसके लिये कर्मों-को त्याग करते हैं उन्हें भी वही काम करना होगा जो वह करता है। भगवान क्या करते हैं सो उन्होंने गीतामें ही कहा है:—

*"उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्"*

अर्थात् यदि मैं कर्म करना छोड़ दूं और उदासीन होकर बैठ रहूं तो यह संसार तमोगुणसे घिर जा कर फिर उसी प्रकृतिके गर्भमें छिप जाय। अपने

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवानके चरणोंमें समर्पित करके मुक्त होनेका यह अभिप्राय नहीं है कि हम कर्मसे एक दम विरत हो जायं, इससे तो हम तामसिक अहंकारके फन्देमें पड़ जायंगे और बन्धनकी दृढ़ श्रृंखलामें बंध जायंगे। यह जीना तो मृत्यु से भी अधम है। इसे स्वर्गका सुख न कह कर नरककी यन्त्रणा कहना ही ठीक होगा। यह मुक्ति नहीं है बल्कि अनन्त बन्धन है।

सात्विक अहंकारमें साधक अपनी बुद्धिके अनुसार किसी एक तरफ झुक पड़ता है। जैसे किसी निर्दिष्ट साधन-पद्धतिको अङ्गीकार करके साधक उसीकी सिद्धिमें तन्मय होकर लग जाता है। दया या परोपकार किसी एक सिद्धिके मार्गको ग्रहण करके अपने चित्तकी प्रवृत्तिके अनुसार उस धर्मकी साधनामें जो सन्तोष उसे मिलता है उसीसे वह सन्तुष्ट रहता है। साधकका सात्विक अहंकार जो कुछ श्रेयस्कर बतलाता है उसीको वह ग्रहण करता है और अन्य वस्तुओंकी ओर वह दृष्टिपात नहीं करता।

हमलोगोंको सदा मनमें रखना होगा कि साधनासे हमलोगोंका अभिप्राय अपने व्यक्तिगत जीवनको लाभ

पहुंचाना नहीं है। ये वस्तुयें यद्यपि सिद्धिके अङ्ग हैं तथापि ये पूर्ण सिद्धि नहीं हैं। कारण कि इस साधना योगको स्वीकार करनेके पहले ही हमने स्थिर कर लिया था कि हम भगवानसे किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना नहीं करेंगे, जो कुछ वह देगा उसे ही हृदयमें विना किसी प्रकारके दुर्भावके स्वीकार कर लेंगे और यदि आनन्दकी बात करते हो तो यही कहूंगा कि इससे बढ़कर आनन्दकी कौनसी बात हो सकती है कि हमने अपना सर्वस्व भगवानके चरणोंमें समर्पित कर दिया है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि भगवानकी प्रत्येक लीला उसके आनन्दोंका विकास है तो हमें आधार बनाकर वह जो लीला करता है वह भी तो मिले आनन्दरूप ही है।

सात्विक अहंकारके होते हुए भी साधना पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये योगीको पूर्णता प्राप्त करनेके लिये उसका भी परित्याग करना होगा। मुक्ति निर्वाण आदि जो साधनाके सबसे बड़े आदर्श हैं, उनसे भी साधकको अपना सम्बन्ध त्यागना होगा। साधकको विना किसी अन्तर्ध्यानके केवल भगवानका, रूप और उसकी लीलाका ही ध्यान

करना होगा। जिस समय साधक इस प्रकार त्रि-
गुणोंसे अर्थात् सत्वरजःतमोगुण जनित अहंकारसे
मुक्त हो जायगा उसी समय वह गीतामें कथित
आनन्दनके आदर्शका पूर्ण अधिकारी होगा।

# साधनाके मार्ग।

आत्मसमर्पण योगके तीन मार्ग हैं। सबसे पहले
आत्मसमर्पण करनेके लिये संकल्प करना होगा।
दूसरे आधारसे परे होकर विज्ञानमय लोकमें निवास
करना और तीसरे सब प्राणी तथा सब काममें पर:
मेश्वरके वर्तमान रहनेका अनुभव करना।

हमें अपनेको, अपने सम्पूर्ण कर्मोंको तथा उन
कर्मोंसे होनेवाले फल निचयको भगवानके चरणोंमें
समर्पित कर देना होगा अर्थात् जीवनमें कर्तव्य
कर्मकी जो एक अविरल धारा बहेगी उसके कर्ता
हम हैं यह भाव हृदयसे दूर करना होगा। निदान तत्

कर्मजनित जो फल होंगे उनके प्राप्तिकी अभिलाषा करना भी हृदयसे दूर करनी होगी। इस प्रकार जब सम्पूर्ण बन्धनसे मुक्त होकर आत्माके विमल आनन्द का हम उपभोग करेंगे उस समय हमारा जो स्वभाव हो जायगा वही इस जीवनकी सिद्धावस्था होगी। तब हम दृढ़तासे कह सकेंगे कि—

*नित्यमुक्तस्वभाववान्*

यह शरीर मन, वच, काय, बुद्धि आदि कुछ भी हमारे नहीं हैं। हम तो केवल आनन्दमयकी सत्ता हैं। इसलिये न तो सुखमें हमारी प्रवृत्ति है, न दुःख-से हमारी निवृत्ति है, न पुण्यमें हमें अभिरुचि है और न पापसे हमें विरक्ति है। इस जीवनमें चाहे जिस तरहकी घटनायें आकर उपस्थित हों, उनका मुझ पर कुछ भी असर नहीं पड़ सकता। कारण कि हमारा तो किसीसे संसर्ग है नहीं। हम तो सच्चिदा-नन्द स्वरूप हैं। सर्वोपरि विद्यमान हैं।

प्रियाप्रियका ज्ञान भी हमें कुछ नहीं है। न तो किसी घटनासे हमें आह्लाद होता है और न किसी-से हमें विषाद होता है। क्योंकि यह सब भगवानकी माया है, उसीकी प्रेरणासे यह सब कुछ होता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, लता, वृक्ष, नदी तथा पर्वत, मकान, नगर, आदि संसारकी जिस किसी वस्तुसे हमारा संपर्क है, ये सब भगवानकी है। इनमेंसे न तो किसीके संसर्गकी हमें आकांक्षा है और न किसीके संसर्गसे विरक्ति है। घटनाचक्रमें पड़कर जिस किसी प्राणी अथवा द्रव्य विशेषसे हमारा सम्पर्क हो जाता है उन सबमें आनन्दमय सत्ताका भिन्न भिन्न रूपसे प्रकाश रहता है। इस प्रकार हमारे जीवनको लेकर जो भिन्न भिन्न घटनाओंकी सृष्टि की जाती है उसमें सुख हो या दुःख, वह भला हो या बुरा, उससे हानि हो या लाभ, यह सब उसी परब्रह्मकी भिन्न भिन्न लीलाका फल है। इसमें सन्देह करनेकी कोई बात नहीं है। यह मनमें धारण करके हमें सर्वावस्थामें समभाव होकर रहना चाहिये।

इस प्रकार शुद्ध सिद्ध आनन्दमय पदको प्राप्त होकर, इस जीवनको भगवानका समझकर मनुष्यको साधना करना होगा। विना साधनाके इस संसारमें कहीं भी किसीको सिद्धि न मिली है और न मिल सकती है।

आत्मसमर्पणका संकल्प मनमें दृढ़ कर लेनेपर हमें दो बातोंका अवलम्बन करना होगाः—अनुमति और स्मृति। अनुमतिका अभिप्राय है सम्मतिसे अर्थात् मनमें यह धारणा करना कि हमारे जीवनमें अमुक घटना होती है और अमुक नहीं होती यह सब भगवानकी इच्छाका फल है। इसलिये वह जो कुछ घटित कराना चाहता है घटाता है। पहले पहल यह विश्वास सहजमें उत्पन्न नहीं होता ! कभी कभी ऐसी विचित्र घटनायें उपस्थित हो जाती हैं कि साधक घबरा उठता है और उसे इस बातकी आशंका उठने लगती है कि क्या स्वयं भगवान हमें इतना कष्ट दे सकते हैं ? इस समय साधकको सम दृष्टि रखनेके निमित्त थोड़ा विशेष प्रयत्न करना होगा। कारण कि सब कर्मोंका प्रेरक भगवानको स्वीकार कर लेनेके हेतु जीवनका जो 'अहम्' रूपी संस्कार है वह एक दिनमें नहीं दूर हो सकता। हृदयमें तो एक तरहका संस्कार जमा रहता है कि अमुक घटना अप्रिय है और इससे मनुष्यको सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये, उसके कारण उन घटनाओंके घटित होनेसे ही साधक घबरा उठता है। किन्तु एक बार

भी अनुमति अथवा सम्मतिका बीजारोपण होने पर चाहे यह कितना ही अपरिपक्व क्यों न हो, भगवानके कार्यका अनुसरण करके चलनेकी हृदयमें एक तरहकी आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। उस समय सुख दुखमय फलोंका हृदयमें अनुभव होने पर भी साधक उसे भगवानकी देनी समझकर ग्रहण करनेमें आनाकानी नहीं करता। इस प्रकारकी सम्मति धीरे धीरे परिपक्व हो उठती है। उस समय कर्मके फलको शुभाशुभ कहकर स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और साधकको पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि शुभाशुभ जो कुछ कर्म है सभी आनन्दमय भगवानकी प्रेरणाका फल है। इसलिये वह अपनी इच्छाको भगवानकी इच्छासे संयोजित कर देता है।

स्मृतिके माने हैं स्मरण रखना। हमने अपने जीवनका स्वर्वस्व भगवानको समर्पित कर दिया है, जो कुछ हमारे पास है सब उसका ही है, यह विश्वास सदा मनमें रखना चाहिये। यदि साधकके मनमें सदा यह भाव उत्कटरूपसे जागृत रहे कि हमने अपना सर्वस्व भवागनके चरणोंमें अर्पण कर

दिया है तो कैसी भी घटना घटित क्यों न हो वह विचलित नहीं हो सकता। कारण कि उस समय यह भाव हृदयमें उठने लगता है कि यह सब उत्पात साधनाके अङ्ग हैं। भगवान अपने आधार क्रीडा यन्त्रको अपने खेलके उपयुक्त बनानेके लिये ही इस प्रकारकी नाना विध घटनाओंकी उत्पत्ति करते हैं। यदि इस प्रकारकी स्मृति नहीं बनी रहे तो साधकके योग भ्रष्ट होनेकी बहुत कुछ सम्भावना है। इस तरहकी घटनाओंका उत्पन्न हो जाना असाधारण बात नहीं है। यदि मनमें यह भाव न बना रहे, स्मृतिपथमें यह बात न जमी रहे कि हमने भगवानके चरणोंमें आत्म-समर्पण कर दिया है और भगवानने ही अपनी अनुपम लीलाके हेतु इन घटनाओंको घटाया है तो साधक उस समय मनुष्यकी साधारण प्रकृतिके अनुसार भगवानके द्वारा नियोजित उत्पातसे मुक्ति पानेके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टायें करने लगता है। आत्मसमर्पणका सङ्कल्प हृदयमें ले लेनेपर साधकके हृदयमेंसे अहंकारके निकल जानेकी जो सम्भावना थी उसके स्थानपर तो अहंकार और भी प्रबल हो उठेगा। और इसका परिणाम यह होगा कि साधक

योगभ्रष्ट होकर अनेक तरहकी आपत्तियोंमें पड़ जागया। इसके लिये हमें छोटे बच्चोंका अनुकरण करना होगा। जैसे छोटे बच्चे पैरोंके बल उठनेकी चेष्टा करते हैं और गिर जाते हैं फिर उठते हैं और गिर जाते हैं फिर फिर उठनेकी चेष्टा करते हैं उसी प्रकार जितनी बार हमारी स्मृति हमें छोड़ कर जाना चाहेगी उतनी ही बार दूना और चौगूना परिश्रम करके हमें उसे वापिस बुलाना पड़ेगा और अपने वशमें रखना पड़ेगा। साधनाके पक्षमें आनेके लिये प्राणतक समर्पण कर देना होगा, इस बातको कभी भी नहीं भूलना चाहिये। चाहे कितनी ही भीषण विपत्तियां क्यों न हों उनका भी अन्त होगा और यदि हम अपने विश्वास पर अटल बने रहे, स्मरण रख सके कि यह सब लीलामयकी लीला है तो निश्चय है कि हम शुद्ध और मुक्त हो जायंगे. क्योंकि भगवानने आधारस्तम्भको शुद्ध और मुक्त बनानेके लिये ही इतने भारी भारी अनर्थोंकी सृष्टि की है।

साधनाके समय साधकको पूर्ण साहस और धैर्य्य रखना चाहिये। सिद्धि लाभ करनेमें कितना

ही समय क्यों न लगे साधकको आकुल नहीं होना चाहिये। साधकको असाधारण धैर्य्य धारण करना चाहिये। और यदि इस बीचमें कोई अनर्थकारी घटना उपस्थित हो जाय तोभी साधकको घबरा कर साहस नहीं छोड़ देना चाहिये। सच्चिदानन्द परमेश्वर सर्व शक्तिमान हैं, चाहे वे कितने ही भीषण गढेमें हमें क्यों न फेंक दें, किसी न किसी दिन वहांसे उबार कर वे हमें अपनी गोदमें अवश्य ले लेंगे, यह ध्रुव जानिये।

साधकके लिये व्याकुलता और उत्तेजना त्याज्य है। पहले पहल स्वच्छन्द प्रवृत्ति इस प्रकारका आडम्बर खड़ी करती है कि साधकके मनमें उठने लगता है कि हम खूब आगे बढ गये हैं पर जब अन्तमें विदित होता है कि लंगर पड़ी जहाजकी भाँति हम उसी जगह ज्योंके त्यों पड़े हैं और अंगुल मात्र भी आगे नहीं बढ़ सके हैं, उस समय भीषण परिताप उपस्थित होता है। जो साधक आत्मसमर्पणका व्रत ग्रहण करके भगवानके हाथोंमें अपनेको समर्पित करके जितना निश्चिन्त तथा सन्तुष्ट हो सकेगा उतनी ही शीघ्रताके साथ उसे सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। व्याकुलता तथा

चेष्टाके साथ अहंकारका संसर्ग है। हम साधना कर रहे हैं, हमें भगवानके दर्शन अवश्य ही होंगे, हमें अवश्य सफलता मिलेगी, इस तरह यदि 'अहम्' का भाव हृदयमें गड़ जाय तो फिर सिद्धि होनेका कोई उपाय नहीं है। जिस तरह खेतका डाड़ा या मेड़ कटी या टूटी रहनेपर जलके आने जानेकी पूरी स्वच्छन्दता है वह खेतमें कभी भी टिक नहीं सकता, उसी प्रकार अहंभावके विद्यमान रहते सिद्धिका प्राप्त होना संभव नहीं। यदि साधक प्रमाद न करके धीरता तथा साहस पूर्वक समस्त विपत्तियोंका सामना कर सकता है तभी आत्म-समर्पणका संकल्प दृढ़ हो सकता है। साधना अत्यन्त कठिन काम है। पर जो लोग आरम्भमें ही इसमें दृढ़ विश्वास करके इसीपर निर्भर हो जाते हैं उनके लिये इससे सरल कोई भी अन्य मार्ग नहीं है। कारण कि उस अवस्थामें मनुष्यकी प्रकृतिही साधनाके अनुकूल हो जाती है। जिस समय आत्माकी प्रकृतिही साधनाके अनुकूल हो जाती है उस समय फिर मनुष्यको स्वयं किसी तरहके प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

१२

# सिद्धिके मार्ग।

सन्तत् सुजातीय ग्रन्थमें सिद्धिके चार मार्ग बतलाये गये हैं—शास्त्र, उत्साह, गुरु एवं काल या समय। सबसे पहले साधनाके मार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकके लिये निर्दिष्ट मार्गकी शिक्षाकी आवश्यकता है।

उसके बाद उस निर्दिष्ट बतलाये हुए मार्गपर चलनेका दृढ़ संकल्प होना चाहिये। उसके बाद दीक्षित करनेके लिये गुरुकी आवश्यकता होगी और फिर काल या समयकी।

पिछले परिच्छेदमें बतलाया जा चुका है कि साधनाके पथपर अग्रसर होनेके लिये साधकको किस मार्गका अवलम्बन करना होगा। हमें साधनाके पथपर चलना है, हमने अपना सर्वस्व ईश्वरके चरणोंमें अर्पण कर दिया है, इसके स्मरणसे ही उत्साह मिलेगा। स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र गुरु बनकर साधकको दीक्षित करेंगे। अब शेष रह गया

काल। उसका तो अनन्त विस्तार तुम्हारे सन्मुख उपस्थित है।

साधकको भ्रम होगा कि स्वयं भगवान गुरुका स्थान किस प्रकार ग्रहण करेंगे। पर ज्ञानका प्रकाश होनेपर इसका पता आपसे आप लग जायगा। उस समय साधकको ज्ञात होगा कि उसके भीतर और बाहर प्रत्येक छोटीसे छोटी घटनायें इस तरहसे बनाई गयी हैं जिससे उसकी योग साधना अनवरतरूपसे चलती रहे, अन्तरंग और बहिरंग सञ्चालन इस प्रकारसे नियोजित किया गया है जिससे एक अपना प्रभाव दूसरे पर डालकर उसे चलायमान करते हैं। ताकि तुममेंसे अपूर्णता निकल जाय और तुम पूर्ण हो जाव। तुम्हारे हृदयमें असीम प्रेम भर गया है, एक महान ज्ञान तुम्हारे जीवनकी गतिको ऊपर उठाता चला जा रहा है। तुम्हें धैर्य्य नहीं छोडना चाहिये, चाहे कितना ही समय क्यों न लगे, अक्षमता और निराश तुम्हारे मार्गका बाधक बनकर खड़े हों तब भी तुम अपने पथसे विचलित न होना। प्रमाद रहित आर्यपुरुषोंकी भांति अपनेको पूर्णतया भगवान-के चरणोंमें समर्पण करके आनन्दलाभ करो।

तुम्हारे सामने कालरूपी अगाध जलराशि अपना विस्तार फैलाये खड़ी है। उसमें तरंगे पर तरंगे उठ रही हैं जो धीरे धीरे उसी अनन्तकी ओर बढ़ रही हैं तुम्हें इन्हीं तरङ्गोंपर होकर चलना पड़ेगा। तुम जानते हो कि जीवनकी गतिका कालही सबसे बड़ा सहायक है।

तुम्हारे जीवनसे एक असाधारण कार्यका सम्पादन कराया जायगा। तुम्हारी मानवी प्रकृति एक दमसे बदल दी जायगी और उसे देव तुल्य बना दिया जायगा। पर इसके लिये न जाने कितने वर्ष लगेंगे। पर इससे तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भी कई एक उपाय हैं, जो सहजमें और अतिशीघ्र फल प्रदान कर सकते हैं। तुम स्वयं इस तरहके अनेकों कार्य खोजकर निकाल सकते हो जिनके निष्पादन करनेसे तुम्हें सन्तोष होगा। तुम्हें प्रत्येक क्षण इस बातका ज्ञान रहेगा कि तुम कुछ न कुछ उपयोगी काम कर रहे हो। प्रणायाम आसन, क्रिया, जप आदिके करनेसे भी आत्माकी उन्नति हो सकती है। तुम सोचोगे मैंने आज इतने समय तक प्राणायाम किया, इतने प्रकारका आसन

किया, हजारकी जगह आज लाखकी संख्यामें मन्त्र-का जप किया। इस प्रकार क्रियामें उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर मनको इस बातका सन्तोष होगा कि हमारी साधना निरन्तर उन्नतिके पथपर चल रही है। पर इस तरह तुम अहंकारको बढ़ा रहे हो। पर यदि तुमने आत्मसमर्पणका व्रत लिया है तो तुम्हें हर तरहसे इसीका हो जाना पड़ेगा। इसीमें दत्तचित्त होकर रहना पड़ेगा।

ऊपर हमने जिन क्रियाओंका वर्णन किया है वे मनुष्यकी रचना हैं। इनका निष्पादन करनेके लिये भगवानकी अनन्त शक्ति अनवरतरूपसे काम नहीं करती। मनुष्यके प्रयासकी सीमा है। वहां तक तो वह काम कर सकता है फिर उसके आगे वह नहीं बढ़ सकता। पर जिस योगीने आत्मसमर्पण कर दिया है उसके कार्यमें किसी तरहका आडम्बर नहीं है। उसकी साधनाके लिये एकान्तकी नितान्त आवश्यकता है, कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि आत्मा सिद्धिके मार्गपर बढ़ती चली जाती है और इन्द्रियोंको इसका पता तक नहीं चलता। कहीं तो इसकी गति अत्यन्त वेगवती गोचर होती है और कहीं

एक दम रुक जाती है। पर एक बार ही यह योग शक्तिके द्वारा योगफलसे विजयके उल्लासमें उस अपूर्व आदर्शको प्रगट कर देती है।

अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये, पूर्णयोगकी साधना-के लिये मनुष्य जो उपाय रचता है वह सर्वथा कृत्रिम है, मनुष्यकी बुद्धि वह सोना है जिसे खानोंसे खोज कर निकाला गया है। इसका संचालन निर्दिष्ट सीमाके भीतर ही होता है। इस कृत्रिम जलराशिमें जीवन नौका विना किसी विघ्न बाधाके एक ओरसे दूसरी ओर खेकर लाई जा सकती है पर इसका मार्ग तथा स्थान निर्दिष्ट है। उस मार्ग और स्थानके अतिरिक्त इसे और कहीं नहीं ले जा सकते। पर आत्मसमर्पण योगका मार्ग अति विस्तृत, अगाध जल राशिकी भाँति है और इस अगाध जलराशिमें कोई मार्ग भी निर्दिष्ट नहीं है। तुम अपनी इच्छाके अनु-सार कोई भी मार्ग ग्रहण कर सकते हो और किसी भी स्थानको पहुंच सकते हो।

इस आदि अन्तहीन अगाध सागरमें यात्रा करनेके लिये तुम्हें आवश्यकता है एक नौकाकी, इसको चला-नेके लिये पतवार और पालकी, दिशाओंका ज्ञान रख-

नेके लिये यन्त्रकी, प्रवृत्तिकी और एक सुचतुर मल्लाह की। इस यात्रामें ब्रह्मविद्या तो तुम्हारी नौका है, विश्वासरूपी पतवारके द्वारा इसको चलाया जायगा, आत्मोत्सर्ग ही इसकी दिशाका ज्ञान करानेवाला अभ्यासयन्त्र है, उत्पन्न, रक्षा और संहार करनेवाली महाशक्तिही तुम्हारी प्रवृत्ति है और स्वयं सच्चिदानन्द भगवान ही तुम्हारे नाविक हैं। पर उनकी स्वकीय कर्म पद्धति है। अपनी इच्छाके अनुसार वे जिस समय चाहेंगे किसी घटनाको घटित करालेंगे। तुम्हें केवल अपने पथका ध्यान रखना होगा, समयकी सर्वथा उपेक्षा करनी होगी।

पश्चिमी शिक्षा जो इस समय हम लोगोंमें प्रचलित है उसकी घोर विरोधिनी है। इस शिक्षाका यही फल है कि वह मनुष्यकी स्वतन्त्र वुद्धिको किसीके दबावमें नहीं रहने देती। इसका फल है कि यह मनको वही काम करनेके लिये प्रवृत्त करती है जो स्वयं मनुष्यकी वुद्धिकी कल्पना है, उसीके अनुमानसे घटित तथा सिद्ध है। इसका कारण यह है कि इस शिक्षा प्रणालीके विधायकोंका दृढ़मत है कि वुद्धि चाहे कितनी ही अपरिपक्व क्यों न हो, विचारशक्ति-

से यह कितना ही असमर्थ क्यों न हो, इस प्रकार स्वतन्त्र विचारसे एक न एक दिन यह बुद्धि अवश्य ही परिपक्व होकर पूर्णताको प्राप्त होगी। इस दशामें इससे साधककी रक्षाका एक ही उपाय है और वह यह है कि उसे शास्त्रोंमें अटल विश्वास और श्रद्धा होनी चाहिये, गुरु चरणोंमें अपनेको पूर्णतः समर्पित कर देना चाहिये। केवल मात्र यही इस अनर्थसे साधकको बचा सकता है।

वर्त्तमान कालमें एक विचित्र धारा बह निकली है। माया तथा अद्वैत सिद्धान्तकी जो प्राचीन प्रचलित बातें हैं उनकी आलोचना वैज्ञानिक और दार्शनिक कसौटीपर रखकर की जाती है। इसमें अध्यात्म विज्ञानमें जो जितना ही पारदर्शी है वह उतना ही अधिक विद्वान समझा जाता है। पर साधकको सावधान रहना चाहिये। इस आदर्शका भूलकर भी अनुसरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि इससे आत्माकी संकुचित हृदयताका पता लगाता है। उस समय मनमें चित्र विचित्र अनेक तरहके प्रश्न उठेंगे। उन प्रश्नोंको हल करनेके लिये, उन शंकाओंका समाधान करनेके लिये, व्यर्थ

अपना समय साधकको नष्ट नहीं करना चाहिये। विज्ञानमय स्थान द्वारा जिस दिन तुम्हें दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होगी उसी दिन तुम्हारे हृदयकी सारी आशंकायें और संशय दूर हो जायंगी। पर हमारे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि तत्व विद्या या मनो विज्ञानकी हमें आवश्यकता नहीं है। इनकी भी आवश्यकता पड़ती है पर इनके लिये निर्दिष्ट स्थान हैं। परन्तु इन सबोंको अध्यात्म विज्ञानकी दासी कहनेसे भी काम चल सकता है। समय समयपर ये कर्मपथको निर्दिष्ट करनेमें सहायक अवश्य होती हैं पर इनका सम्पूर्ण भाव अध्यात्म ज्ञानके अधीन है और उसीकी छायामें पलकर ये अपनी जड़ मजबूत करती हैं। ये सब बातें इस लिये केवल पाण्डित्य, और विषयान्तर हैं। क्योंकि अधिकांश करके इनसे आत्मसमर्पण योगमें सहायता न मिलकर वाधा ही मिलती है।

यदि इस नूतम पथको स्वीकार करना है तो उपरोक्त प्रकारके व्यर्थके प्रश्नोंमें समय न गंवाकर इसके लिये जो शास्त्र बने हैं उनका मनन करो। जिस समय तुम निराशाके घोर अन्धकारमें पड़ जावोगे सभी बातें तुम्हें अस्पष्ट और अर्थहीन प्रतीत होने

लगेंगी। उस समय हृदयके अन्तर प्रकाश डालनेके लिये अधीर या उतावला मत बन जाव। धीर और स्थिर होकर पड़े रहो और इस मार्गसे होकर जो लोग कुछ आगे बढ़ गये हैं उनसे यथा साध्य शिक्षा ग्रहण करो। आत्म विकासके लिये परीशान मत हो। सर्वदा स्थिर प्रकृति होकर पूर्णज्ञान तथा प्रकाश प्राप्त करनेके लिये उसी करुणा वरुणामय आनन्द कन्द भगवान पर निर्भर करो जो तुम्हारी अन्तरात्माका संचालन करते हैं और तुम्हारी सदा सहायता करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं।

१३
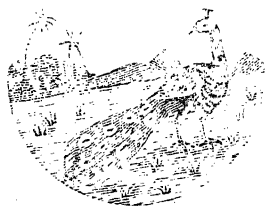
# माया और ब्रह्म ।

इस देशमें दो प्रकारके सिद्धान्तोंकी घोषणा हो रही है और चिरकालसे दोनोंका प्रचार होता चला आ रहा है। ये सिद्धान्त हैं अद्वैतवाद तथा मायावाद। इनके विषयमें भी इस स्थल पर दो चार शब्द कह देना आवश्यक है। पाश्चात्य युक्तिवाद तथा चार्वाकोंके नास्तिकवाद्से मिलकर ये सिद्धान्त मनुष्यके हृदयमें इस प्रकारके विकार उत्पन्न कर रहे हैं कि यदि स्वयं शंकराचार्य भी इनके चक्करमें पड़ गये होते तो उनकी बुद्धि चकरा उठी होती। पर साधकको सदा इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जिस दर्शनशास्त्र द्वारा जीवनके किसी एक ही अंशपर प्रकाश पड़ता है उसमें सत्यका अंशमात्र ही प्रकाशमान है। जिस सृष्टिकी रचना स्वयं भगवानने की है, वह दर्शनशास्त्रकी आलोचनामें पूर्ण नहीं निकल चुकी है अर्थात् इसमें दार्शनिक एकता

नहीं है। वल्कि इसकी अवस्था ठीक वांसुरीके सुरकी तरह है कि भिन्न भिन्न प्रकारके राग निकलकर जिस तरह सम्मिलित होकर एक मनोहर सुर पैदा कर देते हैं उसी तरह भिन्न भिन्न प्रकारके निर्माणसे युक्त होकर भी यह आपसमें विचित्र तरहसे मिलकर एक तरहकी एकता उत्पन्न कर देते हैं जिसके स्वरूपके कारणको निर्धारित करना किसी प्रकारके भा तर्कासे सिद्ध नहीं है। सच्चा और सम्पूर्ण धर्म वही है जिसमें समस्त धर्मोंके सत्यका सार है और सर्वोत्कृष्ट दर्शनशास्त्र भी वही है जिसमें समस्त दर्शन शास्त्रोंका सार हो और प्रत्येकका निर्दिष्ट स्थान व्यक्त तथा स्पष्ट हो।

माया भी एक प्रकारका अनुभव है। इसके व्यक्तित्वका आभास शंकराचार्यको इतना प्रबल हुआ था कि उन्होंने लाचार होकर इसके व्यक्तित्व पर जोर दिया था। पर साधकको मायाके लिये गौ स्थान निर्धारित करके लीलापर ही प्रधान जोर देना होगा। माया शब्दकी अपेक्षा लीलाशब्दमें अधिक सत्ता प्रतीत होती है और हृदयमें इसके प्रति अतिगम्भीर भाव उदय होते हैं। लीलाके अन्तर्गत माया-

का जो भाव वर्तमान है, लीला उसको पारकर गई है और भगवानके रहस्यतम हृदयको उद्घाटित करनेमें समर्थ हुई है।

मैं हूं, इस पृथ्वीतल पर मेरा भी अस्तित्व है, इस अवनीतल पर अवतीर्ण होनेका मेरा प्रयास इसकी नश्वरताका ज्ञान प्राप्त करनेका है, इस तरह की बातें निरर्थक हैं। तुम्हें इससे किसी तरहका प्रयोजन नहीं है। आनन्दकन्द श्रीब्रजचन्द वृन्दावन तथा मथुरामें जो अनन्त लीलाका अभिनय किया करते हैं, उसी लीलामें सम्मिलित होकर तुम भी अनन्त लीलाके अधिकारी बनो।

ब्रह्म एक है पर उसकी सत्ता इसी एकताके सीमान्तरित नहीं है। हमलोगोंने एकोब्रह्म' कहकर उसकी एकताका बोध प्राप्त किया है सही, पर वह सदा अनेक रूप धारण करके हम लोगोंमें विचरा करता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि एक होकर भी अनेकमें प्रकाशित हुए विना वह रह नहीं सकता। यही उसकी लीला है और इसी तरह वह संसारमें अपना प्रत्यक्ष कराता है।

भगवान अनन्त और अवर्णनीय हैं। वे एक हैं या अनेक इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। उपनिषद् तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें भगवानके विषयमें निम्न लिखित वाक्य कहे गये हैं :—

अव्यक्तात् परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च

जो ब्रह्म सर्वव्यापी है, जिसका घट घटमें निवास है, जिसका कोई रूप नहीं है पर सब रूपमें विराजमान है, वह परात्पर पुरुष व्यक्त पुरुषसे कहीं श्रेष्ठ है। वह पुरुष "एकमेवाद्वितीयम्" एक है और अद्वितीय है, अर्थात् उनकी बराबरी करनेवाला इस संसारमें और कोई नहीं है। पर वही परात्पर पुरुष नर, और नारी पशु और पक्षी, पृथ्वी और आकाश, जल और अग्नि, तथा स्थावर जंगम सभी वस्तुओंमें विराजमान है। अनन्त होते हुए भी वह सान्त है। वही जीव है और वही ब्रह्म है। इसी प्रसंगको स्पष्ट करनेके लिये तथा अपना आकार व्यक्त करनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है:—

हंत ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः ॥

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हे अर्जुन! मेरी जो दिव्य विभूति है, उनमेंसे मुख्य मुख्य तुम्हें सुनाता हूं, क्योंकि मेरी संपूर्ण विभूतियोंके विस्तारका अंत नहीं है।

*अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥*
*अहमादिश्चमध्यंच भूतानामंत एव च ॥२०॥*

हे गुडाकेश! [ जितनिद्रा अर्जुन ] संपूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाला मैं संपूर्ण प्राणियोंका अन्तर्यामी हूं मैंही उनका आदि, मध्य और अवसान हूं अर्थात् सबका उत्पन्न करनेवाला, पालनेवाला और संहार करनेवाला मैं हूं।

*यच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहमर्जुन ॥*
*न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥*

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न करनेका बीजभूत कारण मैंही हूं, चराचर प्राणियोंमें ऐसा कोई नहीं है, जिसमें मैं नहीं हूं अर्थात् मैं सबमें हूं।

*यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥*
*तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥४१॥*

हे अर्जुन! संसारमें जो जो वस्तु ऐश्वर्यवान् कान्तिमान् और श्रीमान् है उन सबको तू मेरे तेजसे उत्पन्न हुई समझ।

*अथवा वहुनैतेन किंज्ञातेनतवार्जुन ॥*

*विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥*

अथवा हे अर्जुन ! इन सब बातोंके भिन्न भिन्न जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, तू इतनाही जान ले कि मैंने इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे धारण कर रखा है अर्थात् संसारकी सभी प्राणियों और सभी वस्तुओंमें मेरा अनन्त निवास है। कहांतक गिनाऊँ । सारांशमें जान लो कि :—

*नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।*

अर्थात् मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है। यह सब मेरे ही चैतन्यमय लीलाओंका स्वरूप है। मैं ही सब हूं मेरी की सम्पूर्ण सत्ता है मेरा ही सारा सौन्दर्य है, मेरे ही द्वारा सारा विश्व आनन्दपूर्ण है।

ब्रह्म जिस भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें अपनी सत्ताको प्रकाशित करता है उसमें पूर्ण स्वातन्त्र्यका आभास है, उसी स्वतन्त्रताको मायाका मुक्तद्वार कहते हैं। उसके इस प्रकाशका अन्त नहीं है। जिस अवस्था अथवा वस्तुमें हमलोग उसकी कल्पना करते हैं उसी वस्तुमें वह आबद्ध नहीं है। अपनी

मायाके प्रभावसे वह नित्य नया रूप धारण करके हमलोगोंके बीचमें अपनी लीलाका आनन्द लेता है।

साधकको उसी मायाको काटना होगा वही माया निगाहोंपर विचित्र परदा डालकर हमें इस पृथ्वीको उस भगवानसे कोई भिन्न वस्तु माननेके लिये वाध्य करती है। इस चैतन्य पदार्थको जड़ मनवाती है, सीमारहितमें सीमाबद्ध और मुक्तमें बन्धनका भ्रम पैदा कर देती है। पर साधकको भगवान श्रीकृष्णकी वृन्दावनकी लीला नहीं भूल जानी चाहिये। श्रीकृष्णचन्द्रके विरहमें व्याकुल गोपियोंकी अवस्थाका निदर्शन करते जिस समय नारद मुनि मथुरा गये थे उन्होंने देखा था कि प्रत्येक घरमें भिन्न भिन्न रूप धारण करके कृष्ण भगवान विराजमान हैं। यह एक पौराणिक उपाख्यान है। इस कथामें भक्ति रसकी पराकाष्ठा दिखलाई गई है। यदि इसको स्वीकार न भी करें तो इससे इतना तो अवश्य निश्चय हो जाता है कि ब्रह्मके अनेक रूप हैं।

वही सब कुछ हैं, प्रत्येक वस्तुमें उन्हींका निवास है। भिन्न भिन्न वस्तुओंमें भिन्न भिन्न रूप धारण करके स्थिर रहनेपर भी वे सबमें एक

साथ विराजमान हैं। वही पुरुषोत्तम सबमें श्रीराधाके सहित विराजमान हैं। यदि उनकी इच्छा हो तो एक ही क्षणमें वे संसारकी सभी विचित्रताओंको ही बटोर कर उसे शून्यवत बना सकते हैं और इच्छा होनेपर उसे पुनः प्रकाशित कर सकते हैं। एक ओर दृष्टि उठाकर देखते हैं तो एक वही दिखाई देता है और पुनः दृष्टिको दूसरी ओर फेरते हैं तो सब वस्तुयें भिन्न २ रूप धारण किये दिखाई देती हैं। पर उस भिन्नतामें भी व्यक्त अथवा अव्यक्तरूपसे उसीका स्वत्व विद्यमान है अर्थात् वे भिन्न भिन्न वस्तुयें, केवल उसके प्रकाशमान होनेके लिये साधनमात्र हैं।

इन बातोंपर व्यर्थ विवाद करना किसी भी प्रकारसे लाभदायक नहीं हो सकता। जब तक भगवानका दर्शन नहीं मिलता तबतक शान्तचित्त होकर उसकी अपेक्षा करो। जिस समय तुम्हें उसका साक्षात् होगा उस समय तुम्हें विदित होगा कि जिन व्यर्थके वितण्डावादमें तुम फंसे थे और अपना समय तथा बुद्धि नष्ट कर रहे थे उससे तुम्हें किसी तरहका लाभ नहीं, कोई प्रयोजन नहीं।

१४

# साधनाका फल ।

साधनामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मायावाद तथा अद्वैतवाद आदिके झंझटोंमें नहीं पड़ना होगा। केवल इन सबोंका ज्ञान प्राप्त करना होगा। हम लोगोंका उद्गम व विकास केवल श्रीकृष्णचन्द्रके साथ अनन्त लीलामें योग देनेके निमित्त ही है। उसीके साथ हम अनन्त लीलामें सन्निमग्न होकर उसीकी अनन्त शक्तिमें सन्निविष्ट हो जायंगे। आधार भूत होकर उसके कामको चलायेंगे, यही उसका हमारे लिये आदेश है।

जो अशुभ है उससे मुक्त होकर, उसके संसर्गसे अपनी आत्माको पवित्र बना कर हमें उसकी विद्युत शक्तिसे परिचालित होकर इस संसारमें प्रकाश फैलानेके लिये, उसके ज्योतिकी किरणोंको संसारमें बाटनेके लिये आधारयन्त्र ( डायनमो ) का काम करना होगा। जिस प्रकार एक ही सुरङ्ग पूर्णशक्ति

युक्त होकर घोर रवके साथ पर्वतमालाको विदीर्ण कर देता है उसी प्रकार ईश्वरकी ज्योतिसे सम्पन्न हमें संसारकी सभी अशुद्धताओं और कुसंस्कारोंको दूर करना होगा। इस तरह एक एक मनुष्य साधनामें सिद्ध होकर सैकड़ों और हजारों प्राणियोंके बीच ज्ञान व शक्तिकी ज्योति फैला कर उनमेंसे अविद्याको दूर करेगा और उनका उद्धार करेगा। एक साधककी शक्तिके प्रभावसे सहस्रोंजन भागवत धर्ममें दीक्षित होंगे और सच्चिदानन्दके अगाध सागरमें निमग्न होंगे।

गिरजा, मन्दिर या मस्जिदमें जिस धर्मकी शिक्षा दी जाती है उसके द्वारा सहस्र जन्ममें भी मानव जातिका उद्धार नहीं हो सकता। गूढ़ वार्ता, धर्मोपदेश, नीतिवाक्य आदि मनुष्यको रक्षाका मार्ग नहीं बतला सकते। इनका अभिप्राय केवल मानव शरीरको आधार बना कर अनेक आदर्शोंका प्रचार करना ही है। प्रचलित धर्म नीति, प्राचीन अनुष्ठान-पद्धति, तथा विविध सम्प्रदायोंका वादविवाद अनेक तरहकी विडम्बनाओं तथा भावोंद्वारा आचारशुद्धि आदि नाना प्रकारकी साधनाओंकी सहायतासे

अपने अपने महत्वको प्रचारित करनेमें व्यस्त रहते हैं मानों इन्हींके द्वारा मानव समाजका उद्धार हो सकता है।

पर मानव समाजके उद्धारका केवल एक ही मार्ग, एक ही उपाय और एक ही पन्था है जिसकी वह आजतक उपेक्षा करता आया है। उस मार्गका नाम है शक्ति साधना और आत्मोपलब्धि।

प्रकृतिका ज्ञान अवगम्य करके भी यदि प्रकृतिकी सहायतासे आत्माकी मुक्ति नहीं हो पाती तो निश्चय जानिये कि उस मार्गसे जीवनकी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिये हमें पुनः उसी मार्गका अनुसरण करना होगा, उसी पथपर लौटना होगा जहांसे हमें ईसाकी पवित्रता, व पूर्णता, मुहम्मद्का आत्मविश्वास और आत्मसमर्पण, श्रीचैतन्यदेवका प्रेम व आनन्द, परमहंस रामकृष्णका संसारके सभी धर्मोंका समन्वय तथा एकीकरण, व अतिमानव तत्वकी प्राप्ति होगी।

इन सब भावोंको एकत्र करके एक प्रबल स्रोत बहाना होगा। पतितपावनी, सकलमलहारिणी, पवित्रसलिला भागीरथी गङ्गाकी भाँति नाशवान

इस संसार तथा अर्धमृत इस मानव जातिके बीचमें इसे प्रवाहित कर देना होगा। जिस प्रकार राजा भगीरथ विष्णुपादस्पर्शपवित्रा इस गंगाके स्पर्शसे अपने पितरोंको मुक्त करा कर अनन्त धाममें पहुंचा सके, उसी प्रकार हम भी इस नवीन धर्मके पवित्र स्रोतको मानव जातिके बीचमें प्रवाहित करके, उनकी आत्मशुद्धि करके उनकी आत्माका उद्बोधन करावेंगे। निश्चय मानो कि इस पृथ्वीपर एक बार पुनः स्व-राज्यकी स्थापना होगी।

पर इतनेसे ही लीलाका यह उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सकता। इसी लीलाके लिये ही भगवान प्रत्येक युगमें अवतार ग्रहण करते हैं। वह लीला क्या है? मानव-जातिको दिन प्रति दिन शनैः शनैः उन्नतिके पथपर अग्रसर करना, एक उन्नत पथसे दूसरे उन्नत पथपर पहुंचाना, समुच्चयकी दैवी शक्ति तथा तूरीयके विपुल आनन्द द्वारा मनुष्यको देवताको भांति बनाना ही इस लीलाका उद्देश्य है। भगवान अनन्त युगसे विविध प्रकारके रूप धारण करके इस प्रकारकी लीला करते आ रहे हैं। मानव संसारके बीचमें उनकी इस प्रकारकी लीला सदा व सर्वदा अविच्छिन्न

रूपसे होती चली आ रही है। उन्होंने स्वर्गको मर्त्य बना दिया है और इस पृथ्वीपर सहस्रों धारा द्वारा अमृतकी वर्षा की है। जब तक पृथ्वी और स्वर्ग एक न हो जायं हमें शान्ति नहीं मिल सकती। जब तक इस उद्देश्यकी सिद्धि न हो जाय हमारी साधना पूर्ण व चरितार्थ नहीं हो सकती। केवल यह देशही सच्चिदानन्दमें सन्निविष्ट हो जायगा, यह बात नहीं है। सारे विश्वमें समरूपसे उनकी ज्योति प्रकाशित होगी।

साधक जिस सिद्धिको प्राप्त करता है, उसका प्रयोग यदि वह आत्म जीवनको सफल बनानेके लिये करता है, यदि उसके कतिपय अनुरक्त भक्त भी उससे कुछ ज्ञान प्राप्त कर लें तोभी निश्चय जानिये उसका काम क्षुद्र और नगण्य है। साधकने जिस विराट यज्ञको आयोजना की है उसका काय असीम है गम्भीर तथा गगनस्पर्शी है। जिसने इस महान् यज्ञका आरम्भ किया है यदि वह बार बार असफल हो तो भी थोड़ा या आंशिक सफलता प्राप्तकर ले तो निश्चय जानिये कि उसकी साधना विराट है, महत् है। कारण कि अखण्ड आत्माको शान्ति

प्रदान करनेके लिये ही उसका सारा प्रयास है, समग्र मानव जातिको उन्नत बनानेका ही उसका उद्देश्य है। इसी भावनाको हृदयंगम करके हमें उस अनन्त शक्तिशाली सच्चिदानन्द परात्पर प्रभुके चरणोंमें अपना मस्तक सादर झुका देना चाहिये।

* इतिशम् *

हिन्दी साहित्य की
कमलिनी